परमात्मने नमः

आचार्य आदिसागर अंकलीकर विरचित

प्रायश्चित विधान

संस्कृतानुवाद

आचार्य महावीरकीर्ति जी

हिन्दी टीकाकर्ता

प्रथम गणिनी आर्यिका विजयमति जी

- संपादक -

विष्णु कुमार चौधरी

(एम. ए. एल. एल. बी.)

- प्रकाशक -

आचार्य आदिसागर अंकलीकर विद्यालय

२५, देवग्रान रोड़, इटावा (उ. प्र.)

प्रस्तावना

प्रजापति आदि तीर्थंकर धर्म तीर्थ साम्राज्य नायक भगवान ऋषभदेव से लेकर अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान भगवान पर्यन्त दिव्य ध्वनि रूप द्वादशांग जिनवाणी अविरल रूप से चलती रही, जिसका मूल आधार स्याद्वाद और अनेकान्तवाद है। जिसे आचार्य भगवन्तों ने नमस्कार किया है। और कहा है कि-

श्रीमत्-परम-गम्भीर-स्याद्वादामोघ-लाञ्छनम्।
जीयात्-त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिन-शासनम्॥

अर्थात् मैं उस जिनशासन की जयकार करता हूँ जो परम गम्भीर है, स्याद्वाद जिसका लक्षण है और जो त्रिलोकीनाथ (वीतराग परमात्मा) का कहा हुआ है। क्योंकि यही स्याद्वाद अनेकान्त जिनशासन का मूल आधार है और इसके बिना मोक्ष मार्ग भी नहीं बनता सही वस्तु स्वरूप का निरूपण भी नहीं होता इसलिए इसका आलम्बन आचार्य भगवन्तों ने लिया है।

साधना के लिए जिस प्रकार पुण्य-जीवन और पवित्र प्रवृत्तियों की आवश्यकता है, उसी प्रकार हृदय से सत्य का भी निकटतम परिचय होना आवश्यक है मनुष्य की मर्यादित शक्तियाँ है। पदार्थों के परिज्ञान के साधन भी सदा सर्वथा सर्वत्र सबको एक ही रूप में पदार्थों का परिचय नहीं कराते। एक वृक्ष समीपवर्ती व्यक्ति को पुष्प पत्रादि प्रपूरित प्रतीत होता है तो दूरवर्ती को उसका एक विलक्षण आकार दिखता है। पर्वत के समीप आने पर वह हमें दुर्गम और भीषण मालूम पड़ता है किन्तु दूरस्थ व्यक्ति को वह रम्य प्रतीत होता है - "दूरस्था भूधरा रम्याः"। इसी प्रकार विश्व के पदार्थों के विषय में हम लोग अपने-अपने अनुभव और अध्ययन विश्लेषण करें तो एक ही वस्तु के भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुभव मिलेंगे, जिनको अकाट्य होने के कारण सदोष या भ्रमपूर्ण नहीं कहा जा सकता। एक संखिया नामक पदार्थ के विषय में विचार कीजिए। साधारण जनता उसे विष रूप से जानती है किन्तु वैद्य उसका भयंकर रोग निवारण में सदा प्रयोग

करते हैं। इसलिए जनता की दृष्टि में उसे मारक कहा जाता है और वैद्यों की दृष्टि से लाभप्रद होने के कारण उसका सावधानी पूर्वक प्रयोग किया जाता है तथा प्राणों की रक्षा की जाती है।

इसी प्रकार वस्तुओं के विषय में भिन्न-भिन्न प्रकार की दृष्टियाँ सुनी जाती है और अनुभव में भी आती है। इन दृष्टियों पर गम्भीर विचार न कर कूप मण्डूकवत संकीर्ण भाव से अपने को ही यथार्थ समझ विरोधी दृष्टि को एकान्त असत्य मान बैठते हैं। दूसरा भी इनका अनुकरण करता है। ऐसे संकीर्ण विचार वालों के संयोग से जो संघर्ष होता है उसे देख साधारण तो क्या बड़े-बड़े साधु चेतस्क व्यक्ति भी सत्य समीक्षण से दूर हो परोपकारी जीवन में प्रवृत्ति करने की प्रेरणा कर चुप हो जाते हैं। और यह कहने लगते हैं - सत्य उलझन की वस्तु है। उसे अनन्त काल तक सुलझाते जाओगे तो भी उलझन जैसी की तैसी गोरख धन्धे के रूप में बनी रहेगी। इसलिए थोड़े से अमूल्य मानव जीवन को प्रेम के साथ व्यतीत करना चाहिए। इस दृष्टि वाले बुद्धि के धनी होते हैं, तो यह शिक्षा देते हैं -

कोई कहैं कछु हैं नहीं, कोई कहै कुछ हैं।
है औ नहीं के बीच में, जो कुछ है सो हैं॥''

साधारण जनता की इस विषय में उपेक्षा दृष्टि को व्यक्त करते हुए कवि अकबर ने कहा है-

''मजहबी बहस मैंने की ही नहीं। फालतू अक्ल मुझमें थी ही नहीं।''

ऐसी धारणा वाले जिस मार्ग में लगे हुए चले जा रहे हैं उसमें तनिक भी परिवर्तन को वे तैयार नहीं होते। कारण अपने पक्ष को एकान्त सत्य समझते रहने से सत्य सिन्धु के सर्वांगीण परिचय के सौभाग्य से वंचित रहते हैं। लेकिन सत्य का स्वरूप समझने में डर की कोई बात ही नहीं है। श्रम असामर्थ्य अथवा मानसिक दुर्बलता के कारण कोई बड़ा सन्त बन और कोई दार्शनिक के रूप में आ हमें रस्सी को साँप बता डराता है। स्याद्वाद विद्या के प्रकाश में साधक तत्काल जान लेता है

कि यह सर्प नहीं रस्सी है - इससे डरने का कोई कारण नहीं है।

पुरातन काल में जब साम्प्रदायिकता का नशा गहरा था, तब इस स्याद्वाद सिद्धान्त की विकृत रूप रेखा प्रदर्शित कर किन्हीं-किन्हीं नामांकित धर्माचार्यों ने इसके विरूद्ध अपना रोष प्रकट किया और उस सामग्री के प्रति 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्' की आस्था रखने वाला आज भी सत्य के प्रकाश में अपने को वंचित करता है। आनन्द की बात है कि इस युग में साम्प्रदायिकता का भूत वैज्ञानिक दृष्टि के प्रकाश में उतरा इसलिए स्याद्वाद की गुण-गाथा बड़े-बड़े विशेषज्ञ गाने लगे। **जर्मन विद्वान् प्रो. हर्मन जेकोबी ने लिखा है** - जैन धर्म के सिद्धान्त प्राचीन भारतीय तत्वज्ञान और धार्मिक पद्धति के अभ्यासियों के लिए बहुत महत्वपूर्ण हैं। इस स्याद्वाद से सर्व सत्य विचारों का द्वार खुल जाता है।" **गाँधीजी** ने लिखा है - जिस प्रकार स्याद्वाद को मैं जानता हूँ उसी प्रकार मैं उसे मानता हूँ। मुझे यह अनेकान्त बड़ा प्रिय है।"

अब हमें देखना है कि यह स्याद्वाद क्या है जो शान्त गम्भीर और असम्प्रदायिकों की आत्मा के लिए पर्याप्त भोजन प्रदान करता है। 'स्यात्' शब्द कथञ्चित् किसी दृष्टि से (From some point of view) अर्थ का बोधक है। 'वाद' शब्द कथन को बताता है। इसका भाव यह है कि वस्तु किसी दृष्टि से इस प्रकार है, किसी दृष्टि से दूसरी प्रकार है। इस तरह वस्तु के शेष अनेक धर्मों-गुणों को गौण बनाते हुए गुण विशेष को प्रमुख बनाकर प्रतिपादन करना स्याद्वाद है। स्वामी समन्तभद्र कहते हैं -

"स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृतचिद्विधिः।"

- आप्तमीमांसा १०४

लघीयस्त्रय में अकलंकदेव लिखते हैं - **"अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः"** - अनेकान्तात्मक अनेक धर्म विशिष्ट वस्तु का कथन करना स्याद्वाद है।"

उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ स्याद्वादनयसंज्ञितौ।
स्याद्वादः सकलादेशः नयो विकलसंकथा॥

-लघीयस्त्रय

कथन के साथ स्यात् शब्द का प्रयोग करने से सर्वथा एकान्त दृष्टि का परिहार हो जाता है। स्याद्वाद में वस्तु के अनेक धर्मों का कथन होने के कारण उसे अनेक धर्मवाद अथवा अनेकान्तवाद कहते हैं।

इसी स्याद्वाद को अकलंक देव आचार्य ने लघीयस्त्रय ग्रन्थ के प्रमाण प्रवेश प्रकरण के प्रारम्भ में तीर्थंकरों को पुनः पुनः स्वात्मोपलब्धि के लिए प्रणाम करते समय स्याद्वादी शब्द से समलङ्कृत किया है। कितना भावपूर्ण मंगल श्लोक है -

'धर्मतीर्थकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमो नमः।
ऋषभादिमहावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये ॥

इस स्याद्वाद वाणी के आधार पर महापुराणकार भगवज्जिनसेन जिनेन्द्र भगवान् में सर्वज्ञता का सद्भाव सूचित करते हैं। जिनेन्द्र वृषभनाथ का स्तव करते हुए कहते हैं -

"सार्वज्ञं तव वक्तीश वचः शुद्धिरशेषगा।
न हि वाग्विभवो मन्दधियामस्तीह पुष्कलः ॥ १३३ ॥
वक्तृप्रामाण्यतो देव वचः प्रामाण्यमिष्यते।
न ह्यशुद्धतराद्वक्तुः प्रभवन्त्युज्ज्वला गिरः ॥ १३४ ॥
सप्तभंग्यात्मिकेयं ते भारती विश्वगोचरा।
आप्तप्रतीतिममलां त्वय्युद्भावयितुं क्षमा ॥ १३५ ॥"

- महापुराण, पर्व ३३।

"हे ईश, आपकी सार्वत्रिकी वाणी की पवित्रता आपके सर्वज्ञपने को बताती है। इस जगत् में इस प्रकार का महान् वचन वैभव अल्पज्ञों में नहीं दिखाई पड़ता है।"

"प्रभो! वक्ता की प्रामाणिकता से वचन की प्रामाणिकता मानी जाती है। अपवित्र वक्ता के द्वारा उज्ज्वल वाणी नहीं उत्पन्न होती है।"

"आपकी विश्व विषयिणी सप्तभंग रूप भारती आप में विशुद्ध आप्त प्रतीति को उत्पन्न करने में समर्थ है।"

इस स्याद्वाद के प्रकाश मे अन्य एकान्त धारणाओं के मध्य मैत्री उत्पन्न की जा सकती है। स्वामी समन्तभद्र की आप्तमीमांसा में समन्वय का मार्ग विस्तृत रीति से स्पष्ट किया गया है। स्याद्वाद के वज्रमय प्रासाद पर जब एकान्तवादियों का शस्त्र प्रहार अकार्यकारी हुआ, तब एक तार्किक जैन धर्म के करुणा तत्व का आश्रय लेते हुए कहता है, दया प्रधान तत्वज्ञान का आश्रय लेने वाला जैन शासन जब अन्य संप्रदायवादियों की आलोचना करता है, तब उनके अंतः करण में असह्य व्यथा उत्पन्न होती है, अतः आपको क्षणिकादि तत्वों की एकान्त समाराधना के दोषों का उद्‌भावन नहीं करना चाहिए।

यह विचार प्रणाली तत्वज्ञों के द्वारा कदापि अभिनंदनीय नहीं हो सकती। सत्य की उपलब्धि निमित्त मिथ्या विचारशैली की सम्यक् आलोचना यदि न की जाय तो भ्रान्त व्यक्ति अपने असत्पथ का क्यों परित्याग कर अनेकान्त ज्योति का आश्रय लेने का उद्योग करेगा ? अनेकान्त विचार पद्धति की समीचीनता का प्रतिपादन होते हुए कोई मुमुक्षु इस भ्रम में पड़ सकता है कि सम्भवतः उसका इष्ट एकान्त पक्ष भी परमार्थ रूप हो, अतः वह तब तक सत्पथ पर जाने की अन्तः प्रेरणा नहीं प्राप्त करेगा, जब तक उसकी एकान्त पद्धति की त्रुटियों का उद्‌भावना नहीं किया जाएगा। अहिंसा की महत्ता बताने के साथ हिंसा से होने वाली क्षतियों का उल्लेख करने से अहिंसा की ओर प्रबल आकर्षण होता है। अतः परम कारुणिक जैन महर्षियों ने अनेकान्त का स्वरूप समझाते हुए एकान्त के दोषों का प्रकाशन किया है। जीव का परमार्थ कल्याण लक्ष्यभूत रहने के कारण उनकी करुणा दृष्टि को कोई आँच नहीं आती। तार्किक अकलंक ने कहा है कि "नैरात्म्य भावना का आश्रय ले अपने पैरों पर कुठाराघात करने वाले प्राणियों पर करुणा दृष्टि वश मैंने एकान्त वाद का निराकरण किया है, इसके मूल में न अहंकार है और न द्वेष है।"

इस स्याद्वाद शैली का लौकिक लाभ यह है कि जब हम अन्य व्यक्ति के दृष्टि बिन्दु को समझने का प्रयत्न करेंगे तो परस्पर के भ्रम मूलक दृष्टि जनित विरोध विवाद का अभाव हो भिन्नता में एकत्व (Unity in diversity) की

सृष्टि होगी, आधुनिक युग में यदि स्याद्वाद शैली के प्रकाश में भिन्न-भिन्न संप्रदाय वाले प्रगति करें तो बहुत कुछ विरोध का परिहार हो सकता है।

इन सारी बातों का हमारा कहने का एक ही अभिप्राय है कि जैन धर्म में एकान्तवाद को कोई भी स्थान नहीं है। इसलिए अध्ययन कार को यह सोचना चाहिए कि आचार्य ने किस ग्रन्थ में किस अपेक्षा से किस के लिए क्या कब क्यूँ किसलिए कहा। अगर यह व्यवस्था समझ में आ जाए तो विषमवाद को कोई स्थान नहीं रहता है। क्योंकि द्वादशांग में कोई भी विषय अछूता नहीं है। जिसका निरूपण न किया गया हो चौदह विद्या बहत्तर कला असि मसि आदि छः कर्म यन्त्र-मन्त्र-तन्त्र आयुर्वेद न्याय सिद्धान्त के साथ-साथ दण्ड (प्रायश्चित्त) ग्रन्थों की भी रचना मोक्षमार्ग को अनुशासित चलाने के लिए आचार्य भगवन्तों ने की है हमारे यहाँ श्रुतज्ञान का विभाजन चार अनुयोग रूप में हुआ जिसमें प्रथमानुयोग और चरणानुयोग इन दो अनुयोगों में पुण्य-पाप और आचरण (चारित्र) का विवेचन किया है और जहाँ आचार्यों ने पुण्य और पाप का फल दिखाने के लिए महापुरुषों का जीवन चरित्र लिखा वहीं पर उन्होंने आगे पुण्य-पाप परिणामों का विवेचन किया और उन्होंने ही श्रावक और श्रमण (साधु) की दिन चर्या आवश्यक कर्म आदि का भी उल्लेख किया। उन्होंने बताया कि श्रावक और श्रमण का आचरण मोक्ष मार्ग के लिए कैसा होना चाहिए और उन्हें उस मार्ग पर चलने के लिए किन-किन व्यवस्थाओं (क्रियाओं) को अपनाना चाहिए ? और अगर उस व्यक्ति ने आगम और आचार्य की आज्ञानुसार उन क्रियाओं को पालन करने का संकल्प किया है अपना पालन कर रहा है और उसमें कहीं दोष आदि लग जाते हैं तो उनका परिहार वह व्रतों की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त ग्रन्थों का भी निर्माण किया है। वैसे श्रमण के बारह तपों में छः अंतरंग तप में पहला प्रायश्चित्त तप ही है जिसे उसे पालन करना चाहिए। जैसा कि आचार्य ने लिखा है उन्होंने छः नाम इस तरह से गिनाए हैं -

प्रायश्चित्त विनय वैयावृत्य स्वाध्याय व्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥ २० ॥

- उमा स्वामी आचार्य-तत्वार्थ सूत्र अ. ९ सूत्र २०

The other i.e. Internal, ausrerities are also 6 -

१. प्रायश्चित्त (Expiation).

२. विनय (Reverence).

३. वैयावृत Service (of the saints or worthy people).

४. स्वाध्याय (Study).

५. व्युत्सर्ग (Giring up attachment to the body etc).

६. ध्यान (Concentration).

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान यह छः प्रकार का आभ्यन्तर तप है।

इन छः प्रकार की तपस्या करने से कर्मों की निर्जरा होती है। ऐसा आगम में कहा है और सूत्र भी इस प्रकार है-

"तपसा निर्जरा च"

- आचार्य उमास्वामी, तत्वार्थ सूत्र

जिन्हें मोक्षमार्ग इष्ट है वे ही इस तपस्या को स्वीकार करते हैं क्योंकि अपनी गलतियों को स्वीकार करके उसका प्रायश्चित्त और पश्चाताप करना इससे कोई बड़ा तप नहीं है। इस तप के नौ भेद हैं वे इस प्रकार हैं -

आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापना यह नव प्रकार का प्रायश्चित्त है।

(१) आलोचना - गुरु के निकट (समक्ष) दश दोषों को टालकर अपने प्रमाद का निवेदन करना है।

(२) प्रतिक्रमण - 'मेरा दोष मिथ्या हो' गुरु से ऐसा निवेदन करके अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करना प्रतिक्रमण है।

(३) तदुभय प्रायश्चित्त - आलोचना और प्रतिक्रमण इन दोनों का संसर्ग होने पर दोषों का शोधन करना तदुभय प्रायश्चित्त है।

(४) **विवेक प्रायश्चित्त** - संसक्त हुए अन्न पान और उपकरण आदि का विभाग करना विवेक प्रायश्चित्त है।

(५) **व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त** - कायोत्सर्ग आदि करना व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है।

(६) **तप प्रायश्चित्त** – अनशन, अवमौदर्य आदि करना तप प्रायश्चित्त है।

(७) **छेद प्रायश्चित्त** - दिवस पक्ष और महीना आदि की प्रव्रज्या (दीक्षा) छेद करना छेद प्रायश्चित्त है।

(८) **परिहार प्रायश्चित्त** - पक्ष महीना आदि के विभाग से संघ से दूर रखकर त्याग करना परिहार प्रायश्चित्त है।

(९) **उपस्थापना प्रायश्चित्त** - पुनः दीक्षा का प्राप्त करना उपस्थापना प्रायश्चित्त है।

इन प्रायश्चित्त ग्रन्थों का मूलतः अधिकार आचार्य परमेष्ठी को ही है और आचार्य के भेद एवं लक्षण शास्त्रों में इस प्रकार है कि-

आचार्य - साधुओं को दीक्षा शिक्षा दायक, उनके दोष निवारक तथा अन्य अनेक गुण विशिष्ट संघ नायक साधु को आचार्य कहते हैं। वीतराग होने के कारण पंच परमेष्ठी में उनका स्थान है। इनके अतिरिक्त गृहस्थियों को धर्म कर्म का विधि विधान कराने वाला गृहस्थाचार्य है। पूजा-प्रतिष्ठा आदि कराने वाला प्रतिष्ठाचार्य है। संलेखनागत क्षपक साधु की चर्या कराने वाला निर्यापकाचार्य है। इनमें से साधु रूप धारी आचार्य ही पूज्य है अन्य नहीं।

इन आचार्य परमेष्ठी का और भी उल्लेख पाया जाता है जिसे आगम से जानना चाहिए -

आचार्योऽनादितो रूढेर्योगादीप निरुच्यते।
पञ्चाचार परेभ्यः स आचारयति संयमी॥ ६४५॥

- पंचाध्यायी/उत्तरार्ध

अपिछिन्ने व्रते साधोः पुनः सन्धानमिच्छतः।
तत्समादेशेदानेन प्रायश्चित्तं प्रयच्छति॥ ६४६॥

- पंचाध्यायी/उत्तरार्ध

अनादि रूढ़ि से और योग से भी निरुक्त्यर्थ से भी आचार्य शब्द की व्युत्पत्ति की जाती है कि जो संयमी अन्य संयमियों से पाँच प्रकार के आचारों का आचरण कराता है वह आचार्य कहलाता है ॥ ६४५ ॥ अथवा जो व्रत के खण्डित होने पर फिर से प्रायश्चित्त लेकर उस व्रत में स्थिर होने की इच्छा करने वाले साधु को अखण्डित व्रत के समान व्रतों के आदेश दान के द्वारा प्रायश्चित्त को देता है वह आचार्य कहलाता है।

और भी कहा है-

आचारवान् श्रुताधारः प्रायश्चित्तासना दिदः
आयापायकथी दोषाभाषकोऽश्रावकोऽपि च ॥ १ ॥

सन्तोषकारी साधूनां निर्यापक इमेऽष्ट च ।
दिगम्बरोऽप्यनुद्दिष्टभंजी शय्याशनीति च ॥ २ ॥

आरोगभुक् क्रियायुक्तो व्रतवान्, ज्येष्ठसद्गुणः ।
प्रतिक्रमी च षण्मासयोगी च तद्द्विनिषद्यकः ॥ ३ ॥

- आ. कुन्दकुन्द बोध पाहुड टीका

आचारवान् श्रुताधार, प्रायश्चित्त, आसनादिदः आयापायकथी, दोषभाषक अश्रावक, सन्तोषकारी निर्यापक ये आठ गुण तथा अनुद्दिष्ट भोजी, शय्यासन और आरोगभुक् क्रिया युक्त व्रतवान ज्येष्ठ सद्गुण, प्रतिक्रमी, षण्मासयोगी, दो निषधक, १२ तप तथा ६ आवश्यक यह ३६ गुण आचार्यों के हैं।

ऐसे उपरोक्त गुणों से सम्पन्न आचार्य भगवन्त ही प्रायश्चित्त के दाता कहलाते है उनके द्वारा दिया गया प्रायश्चित्त ही मोक्ष मार्ग को प्रशस्त करता है और तभी पापों से मुक्ति होती है क्योंकि प्रायश्चित्त करना मन को निर्मल करना है। प्रायश्चित्त का लक्षण और निरुक्ति अर्थ ग्रन्थों में इस प्रकार पाया जाता है-

प्रायः साधुलोकः, प्रायस्य यस्मिन्कर्मणि चित्तं तत्प्रायश्चित्तम् ।... अपराधो वा प्रायः, चित्तं शुद्धिः, प्रायस्य चित्तं प्रायश्चित्तम् अपराधविशुद्धि रित्यर्थः । *- राजवार्तिक ९/२२/१/६२०/२८*

प्रायः साधु लोक, जिस क्रिया में साधुओं का चित्त हो वह प्रायश्चित्त अथवा प्राय अपराध उसका शोधन जिससे हो वह प्रायश्चित्त।

प्राय इत्युच्यते लोकश्चित्तं तस्य मनो भवेत्। तच्चित्तग्राहकं कर्म प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्। ९। *- धवला १३/५, ४, २६/गा. ९/५९*

प्रायः यह पद लोक वाची हैं और चित्त से अभिप्राय उसके मन का है। इसलिए उस चित्त को ग्रहण करने वाला कर्म प्रायश्चित्त है, ऐसा समझना चाहिए। और आगे भी कहा है कि-

प्रायः प्राचुर्येण निर्विकारं चित्तं प्रायश्चित्तम्-बोधो ज्ञानं चित्तमित्यनर्थान्तरम्। *-नियमसार। तात्पर्य वृत्ति /११३, ११६*

प्रायश्चित्त अर्थात् प्रायः चित्त प्रचुर रूप से निर्विकार चित्त। बोध ज्ञान और चित्त भिन्न पदार्थ नहीं है। आचार्य और भी आगे कहते हैं -

प्रायो लोकस्तस्य चित्तं मनस्तच्छुद्धिकृत्क्रिया।
प्राये तपसि वा चित्तं निश्चयस्तन्निरुच्यते।

- अनगार धर्मामृत अ. ७/श्लोक ३७

प्रायः शब्द का अर्थ लोक और चित्त शब्द का अर्थ मन होता है। जिसके द्वारा साधर्मी और संघ में रहने वाले लोगों का मन अपनी तरफ से शुद्ध हो जाये उस क्रिया या अनुष्ठान को प्रायश्चित्त कहते हैं।

प्रायस् + चित् + क्त। - पद्मचन्द्र कोष /पृ. २५८

प्रायस्-तपस्या, चित्त-निश्चय। अर्थात् निश्चय संयुक्त तपस्या को प्रायश्चित्त कहते हैं। और इसे सर्वश्रेष्ठ तप भी कहा है और इस प्रायश्चित्त तप के नाम अलग रूप से और भी गिनाये हैं। इसके बारे में कहा गया है कि-

पायच्छित्तं ति तवो जेण विसुज्झदि हु पुव्वकयपावं।
पायच्छित्तं पत्तोति तेण वुत्तं ....॥ ३६१॥
पोराणकम्मखमणं खिवणं णिज्जरणं सोधणं धुमणं।

पुच्छण उछिवणं छिदणंति पायच्छित्तस्स णामाइं ॥ ३६३ ॥

- *मूलाचार गाथा / ३६१, ३६३*

व्रत में लगे हुए दोषों को प्राप्त हुए यति जिससे पूर्व में किए पापों से निर्दोष हो जाए वह प्रायश्चित्त तप है। पुराने कर्मों का नाश, क्षेपण, निर्जरा, शोधन, धावन, पुच्छन (निराकरण) उत्क्षेपण, छेदन (द्वैधीकरण) ये सब प्रायश्चित्त के नाम हैं। इनकी पालना करने का अधिकार आचार्य को ही हैं। वे आचार्य अपने शिष्यों को प्रायश्चित्त देकर उनके व्रतों का शुद्धिकरण करते हैं और आगम में यह भी कहा है कि प्रायश्चित्त शास्त्र को जाने बिना प्रायश्चित्त नहीं देना चाहिए।

जैसा कि कहा है -

मोत्तूण रागदो से ववहारं पट्ठवेइ सो तस्स।
ववहार करण कुसलो जिणवयण विसारदो धीरो ॥ ४५१ ॥
ववहार मयणं तो ववहरणिज्जं च ववहरंतो खु।
उस्सीयदि भव पंके अयसं कम्मं च आदियदि ॥ ४५२ ॥
जहण करेदि तिगिंच्छं वाधिस्स तिरिंच्छओ अणिम्मादो।
ववहार मयणतो ण सोधिकामो विसुज्झेइ ॥ ४५३ ॥

- *भगवती आराधना मूल /मू. /गा. ४५१-४५३/६७८*

जिन प्रणीत आगम में निपुण, धैर्यवान् प्रायश्चित्त शास्त्र के ज्ञाता ऐसे आचार्य राग-द्वेष भावना छोड़कर मध्यस्थ भाव धारण कर मुनि को प्रायश्चित्त देते हैं। ग्रन्थ से, अर्थ से और कर्म से प्रायश्चित्त का स्वरूप जिस को मालूम नहीं है वह मुनि यदि नव प्रकार का प्रायश्चित्त देने लगेगा तो वह संसार के कीचड़ में फंसेगा और जगत् में उसकी अकीर्ति फैलेगी। जैसे - अज्ञ वैद्य रोग का स्वरूप न जानने के कारण रोग की चिकित्सा नहीं कर सकता। वैसे ही जो आचार्य प्रायश्चित्त ग्रन्थ के जानकार नहीं है वे रत्नत्रय को निर्मल करने की इच्छा रखते हुए भी निर्मल नहीं कर सकते।

इसलिए आगम में प्रायश्चित्त के लिए योग्य आचार्य का निर्देश दिया है। जो कि आवश्यक है। प्राचीन प्रायश्चित्त ग्रन्थ में गुरु दास विरचित प्रायश्चित्त समुच्चय एवं प्रायश्चित्त चूलिका नामक ग्रन्थ देखने में आता है उसमें उन्होंने प्रायश्चित्त का विशद विवेचन किया है। जो कि श्रमण संहिता के लिए आवश्यक एवं जरूरी है परन्तु जिस प्रकार से श्रमण संहिता के लिए प्रायश्चित्त आवश्यक है उसी प्रकार से श्रावक (गृहस्थ) के लिए भी दण्ड (प्रायश्चित्त) का विधान है जिसे कि मोक्ष मार्ग की प्रतिकूलता होने पर या व्रतादि को या विघटन होने पर या नियम व त्याग भंग होने पर प्रायश्चित्त की व्यवस्था है जैसे कि यदि कोई जैनी गृहस्थ श्रावक वा श्राविका के किसी कारण से अनाचार व हीनाचरण करने में आ जाय तो उस दोष को दूर करने के लिए क्या प्रायश्चित्त करना चाहिए ? इसके लिए आचार्यों ने प्रायश्चित्त की व्यवस्था इस प्रकार दी है यदि किसी श्रावक व श्राविका ने अपने अज्ञानपन में बिना समझे मद्य-माँस मधु (शहद), बड़ फल, पीपल फल, गूलर, अंजीर और पाकर इन आठ वस्तुओं में से किसी एक वस्तु का भक्षण कर लिया हो तो उसको नीचे लिखे अनुसार प्रायश्चित्त देना चाहिए। अलग-अलग तीन उपवास करना, बारह एकासन करना जिसके साथ अपना पंक्ति भोजन है ऐसे एक सौ आठ पुरुषों को पंक्ति भोजन कराना, भगवान अरिहन्त देव की प्रतिमा का एक सौ आठ कलशों से अभिषेक करना, अपनी शक्ति के अनुसार केशर, चंदन, पुष्प, अक्षत आदि द्रव्यों से भगवान की पूजा करना, एक सौ आठ बार पुष्पों के द्वारा णमोकार मंत्र का जप करना और दो तीर्थ यात्रा करना, इस प्रकार प्रायश्चित्त लेने पर वह शुद्ध होता है पंक्ति में बैठने योग्य होता है। सो ही लिखा है -

मद्यं मांसं मधु भुक्ते अज्ञानात्फलपञ्चकम् ।
उपवासत्रयं चैक भक्तद्वादशकं तथा ॥ ७५ ॥
अन्नदानाभिषेकश्च प्रत्येकाष्टोत्तरं शतम् ।
तीर्थं यात्राद्वयं गन्धपुष्पाक्षतस्वशक्तितः ॥ ७६ ॥

- जिन संहिता

यदि कोई श्रावक-श्राविका म्लेच्छ जाति के घर व किसी नीच के घर भोजन पान कर ले तो उसको तीस उपवास, तिरेपन एकासन, अपनी जाति के दो सौ पुरुषों का आहार दान, गौ-दान, पाँच-पाँच घड़ों से दो सौ बार भगवान का अभिषेक. गंध. पुष्प, अक्षतादिक से भगवान की पूजन और विशेषता के साथ दो तीर्थ क्षेत्रों की यात्रा करनी चाहिए। यह उसका प्रायश्चित्त है। इतना कर लेने पर वह शुद्ध होता है, पंक्ति में बैठने योग्य होता है। सो ही लिखा है -

म्लेच्छादिनीचजा गेहे भुक्तं त्रिंशदुपोषणम्
एकभुक्ते त्रिपंचाशत् पात्रदानं शतद्वयम् ॥
एका गौ पंचकुंभैश्चाभिषेकानां शतद्वयम् ।
पुष्पाक्षतं तीर्थयात्राद्वयं कुर्याद्विशेषतः ॥

- जिन संहिता

यदि कोई श्रावक-श्राविका विजाति के घर (जो अपनी जाति का नहीं है दूसरी जाति का है उसके घर) भोजन कर ले तो उसको नौ उपवास, नौ एकासन, नौ अभिषेक, अपनी जाति के नौ पुरुषों को आहारदान और तीन सौ पुष्पों से जप करना चाहिए। यह उसको दण्ड व प्रायश्चित्त है। इतना कर लेने पर वह शुद्ध और पंक्ति योग्य होता है। सो ही लिखा है। यथा-

विजातीयानां गेहे तु भुक्तं चोपोषणं नव ।
एक भुक्त्यन्नदानाभिषेक पुष्पशतत्रयम् ॥

जिसके घर कोई मनुष्य पर्वत से गिर कर मर गया हो अथवा सांप के काट लेने से मर गया हो अथवा हाथी, घोड़ा आदि किसी सवारी से गिर कर मर गया हो तो उसके बाद रहने वाले को नीचे लिखे अनुसार प्रायश्चित्त लेना चाहिए। उसको पचास तो उपवास करने चाहिए और पचास ही भगवान के अभिषेक करने चाहिए तथा पूजा करनी चाहिए। इतना प्रायश्चित्त करने पर वह शुद्ध और पंक्ति योग्य होता है। सो ही लिखा है -

गिरेः पातो हि दष्टश्च गजादि पतनान्मृतः ।
उपवासाश्च पंचाशदभिषेकाश्च तैः समाः ॥

यदि कोई अग्नि में पड़कर मर गया हो तो उसके पीछे वाले को पचपन उपवास, अपनी जाति के पांच-पांच पुरुषों को अन्नदान, एक तीर्थ यात्रा, बीस भगवान के अभिषेक, गऊ-दान, केशर, चंदन, पुष्प, अक्षत आदि से भगवान की पूजा, अपनी शक्ति के अनुसार गुरु पूजा और भगवान के भण्डार में अपनी शक्ति के अनुसार द्रव्यदान देना चाहिए। इतना प्रायश्चित्त कर लेने पर वह शुद्ध और पंक्ति योग्य होता है। सो ही लिखा है।

मृतेऽग्नौ पातके जाते प्रोषधाः पंचपंचाशच्।
पंचपंचान्नदानं च जिनाभिषेकविंशतिः ॥
तीर्थयात्रा च गोदानं गंध पुष्पाक्षतादयः।
यथाशक्ति गुरुपूजा द्रव्यदानं जिनालये ॥

सब प्रायश्चित्तों में प्रायश्चित्त लेने वाले पुरुष को अपने मस्तक का मुण्डन कराना चाहिए, केशर, अगुरु चंदन और पुष्पादिक पूजा के द्रव्य अपनी शक्ति के अनुसार जिनालय में देना चाहिए, यथायोग्य यह ग्रह पूजा करनी चाहिए, सम्यग्दृष्टि जैनी ब्राह्मणों को दान देना चाहिए, यथायोग्य रीति से चार प्रकार के संघ की पूजा करनी चाहिए और गृहस्थ श्रावकों को भोजन देना चाहिए। ये सब बातें यथायोग्य रीति से सब जगह समझ लेना चाहिए। यह सब प्रायश्चित्तों में समुच्चय प्रायश्चित्त है। सो ही लिखा है -

प्रायश्चित्तेषु सर्वेषु शिरोमुण्डं विधीयते।
काश्मीरागुरुपुष्पादि द्रव्यदानं स्वशक्तितः॥
ग्रह पूजा यथायोग्यं विप्रेभ्यो दान मुत्तमम्।
संघपूजा गृहस्थेभ्यो ह्यन्नदानं प्रकीर्तितम्॥

यदि किसी स्त्री आदि का चाण्डाल आदि से संसर्ग हो जाए तो उसे पचास उपवास, पाँच सौ एकाशन, सुपात्रों को दान, तीर्थयात्रा, पचास बार पुष्प, चंदन, अक्षत आदि से भगवान की पूजा, संघ पूजा, मंत्र के जप, व्रत और जिनालय में द्रव्यदान देना चाहिए। इतना प्रायश्चित्त कर लेने पर वह शुद्ध और पंक्ति योग्य

होता है। सो ही लिखा है -

चांडालादिकसंसर्गं कुर्वन्ति वनितादिकाः।
पंचाशत्प्रोषधाश्चैक भक्ताः पंच शतानि च ॥

सुपात्रदानं पंचाशत्पुष्पचन्दनपूजनम् ।
संघ पूजा च जाप्यं च व्रतं दानं जिनालये ॥

यदि स्त्री आदि का माली आदि से संसर्ग हो जाय तो उसे पाँच उपवास दश एकाशन, अपनी जाति के बीस पुरुषों को भोजन देना चाहिए। इतना प्रायश्चित्त कर लेने पर वह शुद्ध और पंक्ति योग्य होता है। **सो ही लिखा है -**

मालिकादिकसंसर्गं कुर्वन्ति योषितादयः।
प्रोषधाः पंच चैकान्नं दश भक्तानि विंशतिः ॥

इसी प्रकार वृद्धि सूतक में (किसी बालक के जन्म होने से जो सूतक लगता है उसमें) अथवा मृत्यु सूतक में (किसी के मरने पर जो सूतक लगता है उसमें) पाँच उपवास, ग्यारह एकासन, पात्रदान और केशर, चन्दन आदि द्रव्यों से भगवान की पूजन करनी चाहिए। इतना प्रायश्चित्त कर लेने पर उसका वह सूतक दूर होता है तथा वह शुद्ध होकर पंक्ति योग्य होता है। **सो ही लिखा है -**

सूतके जन्म मृत्योश्च प्रोषधाः पंचशक्तितः।
एक भुक्ता दशैकाद्याः पात्रदानं च चंदनम् ॥

जिस पुरुष ने किसी वस्तु का त्याग कर रखा है वह यदि बिना जाने खाने में आ जाय तो एक उपवास, दो एकाशन और अपनी शक्ति के अनुसार पुष्पाक्षतादिक से भगवान की पूजा करनी चाहिए। तब वह त्याग भंग का प्रायश्चित्त होता है।

इसी प्रकार बिना जाने यदि मुख में हड्डी का टुकड़ा आ जाय तो तीन उपवास, चार एकाशन और अपनी शक्ति के अनुसार केशर, चंदन, अक्षत आदि की पूजा की सामग्री मन्दिर में देनी चाहिए तब उसकी शुद्धि होती है।

सो ही लिखा है-

आघाते मुखेऽस्थिखण्डे चोपवासास्त्रयो मताः।
एक भुक्ताश्च चत्वारो गंधाक्षताः स्वशक्तितः ।।

यदि अपने हाथ से हड्डी का स्पर्श हो जाय अथवा अपने शरीर से हड्डी का स्पर्श हो जाय तो स्नान कर दो सौ बार णमोकार मंत्र का जप करना चाहिए। यह उसका प्रायश्चित्त है। **यथा-**

स्पर्शितेऽस्थिकरे स्वांगे स्नात्वा जाप्यशतद्वयम् ।
अस्थि यथा तथा चर्म केश श्लेष्ममलादिकम् ।।

जिस प्रकार हड्डी के स्पर्श का प्रायश्चित्त बतलाया है वही प्रायश्चित्त गीले चमड़े के स्पर्श करने का, केश-श्लेष्म (कफ-खकार) नाक का मल आदि का हाथ से व शरीर से स्पर्श हो जाने पर लेना चाहिए।

अपनी स्त्री के गर्भपात से उत्पन्न होने वाले पाप के होने पर बारह उपवास, पचास एकाशन और अपनी शक्ति के अनुसार पुष्प, अक्षतादिक जिनालय में देना चाहिए तब शुद्धि होती है। **सो ही लिखा है-**

गर्भस्य पातने पापे प्रोषधा द्वादशाः स्मृताः ।
एक भक्ताश्च पंचा शत्पुष्पाक्षतादिशक्तितः ।।

यदि अज्ञान से व प्रमाद से दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय आदि विकलत्रय जीवों की हिंसा हो जाय तो दो इन्द्रिय जीव की हिंसा होने पर चार उपवास और णमोकार मंत्र की चार मालाओं का जप करना चाहिए। तब उसकी शुद्धि होती है। **सो ही लिखा है-**

अज्ञानाद्वा प्रमादाद्वा विकलत्रयघातके।
प्रोषधा द्वित्रिचत्वारो जपमालाः तथैव च ।।

यदि घास, भूसा खाने वाले पंचेन्द्रिय पशु का घात हो जाय तो अट्ठाईस उपवास, पात्रदान, गौदान और अपनी शक्ति के अनुसार पुष्प, अक्षत आदि पूजा के द्रव्य जिनालय में दान देना चाहिए तब उसकी शुद्धि होती है तथा तभी

वह पंक्ति के योग्य होता है। सो ही लिखा है -

घातिते तृणभुक्जीवे प्रोषधा अष्टविंशतिः ।
पात्रदानं च गोदानं पुष्पाक्षतादि स्वशक्तितः ॥

यदि जलचर, थलचर व किसी पक्षी का किसी से घात हो जाय अथवा चूहा, बिल्ली, कुत्ता आदि दाँत से हत्या करने वाले जीव का किसी से घात हो जाय तो उस पुरुष को बारह उपवास, सोलह एकाशन, सोलह अभिषेक, गोदान, पात्रदान करना चाहिए तथा अपनी शक्ति के अनुसार गुरु जो बतलावें सो करना चाहिए तब वह शुद्ध और पंक्ति योग्य होता है। सो ही लिखा है -

जलस्थलचराणां तु पक्षिणां घातकः पुमान् ।
गृहे मूषकमार्जारिश्वादीनां दन्तदोषिणाम् ॥
प्रोषधा द्वादशकान्नाभिषेकाश्चानुषोडश ।
गोदानं पात्रदानं तु यथाशक्ति गुरोर्मुखात् ॥

यदि किसी से गाय, घोड़ा, भैंस, बकरी आदि जीवों की हिंसा हो जाय तो उस पातकी को तेइस उपवास, एक सौ एक एकाशन तथा अपनी शक्ति के अनुसार पात्र दान, तीर्थयात्रा आदि करना चाहिए। तब वह शुद्ध और पंक्ति के योग्य होता है सो ही लिखा है -

गोऽश्वमहिषीछागीनां वधकर्तात्रिविंशतिः ।
प्रोषधा एकभक्तानां शतं दानं तु शक्तितः ॥

यदि किसी से किसी मनुष्य की हिंसा हो जाय तो उसको तीन सौ उपवास, गोदान, पात्रदान आदि पहले कही हुई सब विधि और तीर्थयात्रा आदि करनी चाहिए। तब वह शुद्ध और पंक्ति के योग्य होता है। सो ही लिखा है -

मनुष्यघातिनः प्रोक्ता उपवासाः शतत्रयम् ।
गोदानं पात्रदानं तु तीर्थयात्रा स्वशक्तितः ॥

यदि कोई पुरुष किसी पुरुष के कारण से विष खाकर व और किसी तरह मर

जाय अथवा अन्न, जल का त्याग कर मर जाय अथवा पति के मरने पर कोई विधवा स्त्री अग्नि में प्रवेश कर मर जाय अथवा खरीद बिक्री आदि व्यापार के सम्बन्ध से किसी मनुष्य का घात हो जाय अथवा घर में अग्नि लगने पर कोई मनुष्य व पशु मर जाय, अपना कुआ खोदने में कोई मर जाय, अपने तालाब में पड़ कर कोई मर जाय जो अपना सेवक द्रव्य कमाने गया हो और मार्ग में चोर आदि के द्वारा वह मारा जाय अथवा अपने मकान की दीवाल गिर जाने से कोई मर जाय तो जिस मनुष्य को कारण मानकर वह मरा है अथवा जिसके कुआ, तालाब, दीवाल आदि से वह मरा है उसको पांच उपवास करने चाहिए, बावन एकाशन करना चाहिए, गौदान, संघ पूजा, दयादान, अभिषेक, पुष्प, अक्षत आदि पूजा द्रव्य को जिन भंडार में देना और णमोकार मंत्र का जप यथायोग्य रीति से करना चाहिए। तब वह शुद्ध और पंक्ति योग्य होता है। सो ही लिखा है -

यस्योपरि मृतो जीवो विषादिभक्षणादिना।
क्षुधादि नाथ वा भृत्ये गृहदाने नरः पशुः ॥
कूपादिखनने वापि स्वकीयेत्र तडागके ।
स्वद्रव्योपार्जिते भृत्ये मार्गे चौरेण मारिते ॥
कुड्यादितने चैव रंडा वह्नौ प्रवेश ने ।
जीवघातो मनुष्येण संसर्गे क्रय-विक्रये ॥
प्रोषधाः पंच गोदानमेक भक्ताद्विपंचाशत् ।
संघ पूजादयादानं पुष्पं चैव जपादिकम् ॥

यदि अपने पानी आदि के मिट्टी के बर्तन अपनी जाति के बिना अन्य जाति के मनुष्य से स्पर्श हो जाय तो उतार देना चाहिए। यदि तांबे, पीतल, लोहे के बर्तन दूसरी जाति वाले से छू जाय तो राख से (भस्म से) मांज कर शुद्ध कर लेना चाहिए। यदि कांसे के बर्तन अन्य जाति वाले से छू जाय तो अग्नि से गर्म कर शुद्ध करना चाहिए। काठ के बर्तन कठवा, कठौती, कुंडी आदि हो और चौका में काम आ जाने पर दूसरों के द्वारा छूये जाय तो वे शुद्ध नहीं हो सकते। यदि

कांसे, तांबे, लोहे के बर्तन में अपनी जाति के सिवाय अन्य जाति वाला भोजन कर ले तो अग्नि से शुद्ध कर लेना चाहिए। जिस बर्तन में मद्य, मांस, विष्ठा, मूत्र, निष्ठीवन (वमन) खकार, कफ, मधु आदि अपवित्र पदार्थों का संसर्ग हो जाय तो उस पात्र को उत्तम श्रावक त्याग कर देते हैं। फिर काम में नहीं लेते। चलनी, वस्त्र से मढ़ा सूप, मूसल, चक्की आदि रसोई के उपकरण अपनी जाति के बिना अन्य जाति के लोगों से स्पर्श हो जाने पर बिना धोये हुए शुद्ध नहीं होते। उनको धोकर शुद्ध कर लेना चाहिए।

यदि स्वप्न में किसी अन्नादिक वस्तु का भक्षण किया जाय तो उस वस्तु का तीन दिन तक के लिए त्याग कर देना चाहिए। यदि किसी ने स्वप्न में मद्य, मांस का भक्षण किया हो तो दो उपवास करना चाहिए। यदि नींद में परवश होकर ब्रह्मचर्य का भंग हो जाय तो एक हजार णमोकार मंत्र का जप करना चाहिए और तीन एकाशन करना चाहिए। यदि स्वप्न में अपनी माता, भगिनी, पुत्री आदि का संसर्ग हो जाय तो दो उपवास और एक हजार मंत्र का जप करना चाहिए।

यदि कोई मिथ्यादृष्टि के घर एक रात्रि रहकर भोजन कर ले अथवा एक बार शूद्र के घर भोजन कर ले तो उसको पांच उपवास और दो हजार णमोकार मंत्र का जप करना चाहिए। यदि शूद्र के घर अपनी रसोई भी बनाकर खावे तो भी दोष ही है। इस प्रकार यह थोड़ी सी प्रायश्चित्त की विधि बतलाई है। विशेष जानने की इच्छा हो तो अन्य अनेक जैन-शास्त्रों से जान लेना चाहिए। सो ही लिखा है -

स्वतोन्यैः स्पर्शितं भांडं मृन्मयं चेत्परित्यजेत्।
ताम्रारलोहभांडं चेच्छुध्यते शुद्ध भस्मना॥
वह्निना कांश्यभांडं चेत्काष्ठ भांडं न शुद्धयीत।
कांश्यं ताम्रं च लोहं चेदन्यभुक्तोग्निना वरम्॥
यद्भाजने सुरामांसं विण्मूत्रश्लेष्म माक्षिकः।
क्षिप्तं ग्राह्यं न तद्भांडं तत्त्याज्यं श्रावकोत्तमैः॥

चालिनी वस्त्र सूर्पं च मुशलं घट्टिर्यंत्रकम् ।
स्वतोन्यैः स्पर्शितः शुद्धं जायते क्षालनात्परम् ॥

स्वप्ने तु येन यद् भुक्तं तत्त्याज्यं दिवसत्रयम् ।
मद्यं मांसं यदा भुक्तं तदोपवासकद्वयम् ॥

ब्रह्मचर्यस्य भंगे तु निद्रायां परवश्यतः ।
सहस्रैकं जपेज्जापमेक भुक्तं त्रयं भवेत् ॥

मात्रा [illegible] भगिन्या च [illegible] [illegible] आगते ।
उपवासद्वये स्वप्ने सहस्रैकं जपोत्तमम् ।

मिथ्यादृष्टि गृहे रात्रौ भुक्तं वा शूद्रसद्मनि ।
तदोपवासाः पंच स्युः जाप्यं तु द्विसहस्रकम् ॥

इत्येवमल्पशः प्रोक्तः प्रायश्चित्तविधिः स्फुटम् ।
अन्यो विस्तारतो ज्ञेयः शास्त्रेष्वन्येषु भूरिषु ॥

इस प्रकार प्रायश्चित्त का विधान त्रिवर्णाचार के नौवें अध्याय में लिखा है-

कदाचित् यहाँ पर कोई यह प्रश्न करे कि इस प्रायश्चित्त की विधि में गौदान तथा ब्राह्मण को दान देना लिखा है सो यह कहना वा करना तो जिनधर्म से बाह्य है ऐसा तो अन्यमती कहते हैं इसलिए ऐसा श्रद्धान करना खोटा है। सो इसका समाधान यह है कि जैन शास्त्रों में चार वर्ण बतलाये हैं। तीन वर्ण तो अनादि से चले आ रहे हैं तथा चौथा ब्राह्मण वर्ण महाराज भरत ने स्थापन किया है। जो क्षत्रियवंश में उत्पन्न हुए सम्यग्दृष्टि, उपासकाचार के साधन, दान के पात्र, ब्रह्मज्ञान के प्रकाशक, बारह तप और पाँचों अणुव्रतादि को पालन करने वाले थे उनने ब्राह्मण वर्ण स्थापन किया था। सो ही लिखा है -

ब्रह्म ज्ञान विकाशकाः तपोव्रतयुतास्ते ब्राह्मणाः ।

ऐसे ब्राह्मण सम्यग्दर्शन आदि अनेक गुणों को पालन करते हैं और रत्नत्रय के चिह्न स्वरूप यज्ञोपवीत को धारण करते हैं। ऐसे धर्मात्मा ब्राह्मणों को दान देना

लिखा है। यदि ब्राह्मण मिथ्यादृष्टि, पाखण्डी, विषय भोग के लम्पटी, दुराचारी, हिंसादिक महापाप के धारी, महारम्भी, जैन धर्म के निन्दक, द्रोही, अभिमानी और दूसरों को ठगने वाले ऐसे अपात्र हो तो उनको दानादिक कभी नहीं देना चाहिए। ऐसे ब्राह्मणों को कभी दान नहीं देना चाहिए।

प्रश्न - यदि वर्तमान समय में सम्यग्दृष्टि ब्राह्मण न मिले तो क्या करना चाहिये ?

तो इसका उत्तर यह है कि जैन शास्त्रों में और प्रकार से भी गौदान करना लिखा है। भगवान अरहन्त देव के अभिषेक करने के लिए श्री जिन मन्दिर में गौदान देना चाहिये। इसलिए यदि सम्यग्दृष्टि ब्राह्मण न मिले तो जिन मन्दिर में गोदान करना चाहिए।

प्रश्न - जिन मन्दिर में गोदान करना कहाँ लिखा है तथा इसकी प्रवृत्ति भी आजकल कहाँ है तो इसका उत्तर यह है कि यह प्रकरण त्रिवर्णाचार में दश दान का वर्णन करते समय लिखा है वह इस प्रकार है - पहले तो उत्तर पुराण में लिखा है। शास्त्रदान, अभयदान और अन्नदान ये तीनों दान बुद्धिमानों को देने चाहिए। ये तीनों दान अनेक प्रकार के फल को देने वाले हैं। सो ही उत्तर पुराण में लिखा है -

शास्त्राभयान्नदानानि प्रोक्तानि जिनशासने ।
पूर्व पूर्व बहुपात्र फलानीमानि धीमता ॥

और देखो दशवें तीर्थंकर श्री शीतलनाथ के अन्तराल में एक भूति शर्मा नाम के ब्राह्मण के एक मुण्डशालायन नाम का पुत्र हुआ था। उसने बहुत विद्या पढ़ी थी परन्तु मिथ्यात्व कर्म के तीव्र उदय से वह जिनधर्म का तीव्र द्रोही था। उसने जिनधर्म के विरूद्ध बहुत से शास्त्र बनाये और लोभ के वशीभूत होकर अपनी आजीविका के लिए "ब्राह्मणों को कन्या आदि दश प्रकार के दान देना चाहिए" ऐसा वर्णन किया और उसमें बहुत पुण्य बतलाया। कन्या, हाथी, सुवर्ण, घोड़ा, कपिला, (गौ) दासी, तिल, रथ, भूमि, घर ये दश प्रकार के दान ब्राह्मणों को देने के लिए बतलाये। इस प्रकार उसने महा हिंसा की प्रवृत्ति करने वाले कुत्सित दानों का स्थापन किया।

इसलिए प्रायश्चित्त ग्रन्थों में विकृतियाँ आई हैं परन्तु दिगम्बर जैन आचार्यों ने उन विकृतियों को स्वीकार नहीं किया और मोक्ष मार्ग की आचार्य संहिता के लिए वीतराग परमात्मा की आज्ञा को स्वीकार किया और करवाया एवं करने वालों की अनुमोदना की। उन्हीं प्राचीन आचार्यों की व्यवस्थानुसार उसी प्रकार ओर भी अनेक प्रकार से प्रायश्चित्त की विधान की व्यवस्था है जो कि दिगम्बर जैन आचार्य संहिता के तहत आवश्यक है।

इसी आचार्य संहिता का पालन करने और कराने हेतु और इस बीसवीं शताब्दी में देश में जब धर्म का लोप हो रहा था धर्म गुरु के रूप में दिगम्बर संतों का अभाव हो गया था। देश में अत्याचार अनाचार बढ़ने लगा था। जैन धर्म का लोप होता जा रहा था ऐसे समय में पूज्य शिव गौड़ा ने प्रथम दिगम्बर दीक्षा लेकर इस देश में पुनः धर्म का झडा फहराया।

शिव गौड़ा का जन्म ईस्वी सन् १८६६ भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी के दिन पिता सिद्ध गौड़ा माता अक्काबाई के यहाँ हुआ। श्री शिव गौड़ा को ३७ वर्ष की अवस्था में वैराग्य हुआ था। उस समय इनका बालक तवन गौंडा अनुमानतः ५ या ६ वर्ष का होगा। उस समय ये श्री सम्मेद शिखर की यात्रा को जाने लगे। तब बालक ने पैर पकड़ लिया और रोकर कहा पिताजी तुम कहाँ जाते हो ? तब बालक को कुछ आश्वासन देकर, कुछ देकर मोह छोड़कर सम्मेद शिखर की यात्रा की तथा राजगृही, पावापुरी, सेठ सुदर्शन पवित्र स्थान गुलजार बाग पटना आदि की यात्रा कर आरा में एक मास तक ठहरे वहाँ जिनवाणी भक्त शिरोमणि दानवीर रईस देवकुमारजी ने वैराग्य में विशेषता उत्पन्न करने के लिए ३२ श्री जिन मंदिरों के भक्ति पूर्वक दर्शन कराये नांदिनी में तीन उपवास करने के पश्चात् श्री भट्टारक स्वामी श्री जिनप्पा से स्वाति नक्षत्र में ४० वर्ष में क्षुल्लक दीक्षा धारण की। क्षुल्लक दीक्षा में ३ मास तक रहे। अनन्तर आर्य दीक्षा ऐलक दीक्षा दही गाँव में श्री भगवज्जिनेन्द्र की साक्षी पूर्वक धारण की अनुमानतः ८ वर्ष तक आर्य दीक्षा में रहकर ३ वर्षों में ३ उपवास अनन्तर भिक्षा आदि का उत्तम अभ्यास कर वैराग्य दृढ़कर मार्ग शीर्ष शुक्ला मूल नक्षत्र मंगलवार १० बजे १८३५ शके

श्री सिद्ध क्षेत्र स्थान श्री १००८ श्री कुंथलगिरि तीर्थाधिराज पर श्री जिनेन्द्र देव की साक्षी पूर्वक निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण की। कारण उस समय कलिकाल के महाप्रभाव से सतत् निर्ग्रन्थ मुद्रा धारण करके रहने वाला कोई श्री गुरु प्राप्त नहीं हुआ था। निर्ग्रन्थ दीक्षा में श्री आदिसागर मुनि कुञ्जर ने जब कुंभोज बाहुबलि पहाड़ पर केशलोंच किया था, उस समय आकाश में जयघोष हुआ था उस समय कुछ लोग महाराज के दर्शन के लिए आये थे जो नीचे पहाड़ के थे वे जय शब्द सुनकर ऊपर आये थे और चिल्लाते थे कि यहाँ बहुत लोगों ने जयघोष किया था। यह सुनकर हम आये हैं उत्तर दिया गया कि यहाँ केवल महाराज और १ उपाध्याय पण्डित है और कोई नहीं इनके (महाराज) देवकृत जयशब्द हैं उस घोष को सुनने वाले देशाई देव ऊदगाँव में अभी विद्यमान हैं।

लक्ष्मणराव भरमप्पा आरवाड़े सांगली प्रबन्ध करते थे। महाराज श्री उपदेश देते थे दीक्षाएँ दी संघ बन गया। आप पंचाचार का पालन करते थे। अतः श्रुतपंचमी के रोज सन् १९२५ में आपको आचार्य परमेष्ठी का पद घोषित कर दिया गया। आप सप्ताह में एक बार आहार लेते थे। आहार में एक ही वस्तु ग्रहण करते थे उनमें बड़ी शक्ति थी। आम की ऋतु में आम के रस का आहार मिला तो वे उस पर ही निर्भर रहते थे। दूसरी वस्तु नहीं लेते थे। जब गन्ने का रस लेते थे तब रस के सिवाय अन्य कोई भी पदार्थ ग्रहण नहीं करते थे। वे कन्नड़ी भाषा में आध्यात्मिक पदों को गाते थे वास्तव में उन की ज्ञान संपत्ति अपूर्व थी। पर जब श्रावक लोग उन्हें अपने कंधे पर उठा कर ले जाते थे तब उठाने वाले को ऐसा लगता था कि किसी बालक को उठाया हो। वे प्रायः कोन्नूर की गुफाओं में रहते थे और ध्यान करते थे। वहाँ शेर आया करता था। शेर के आने पर भय का संचार नहीं होता। थोड़ी देर दर्शन कर शेर चला जाता। आपके संघ में ६०-७० साधु थे। अंकली गांव में पंच कल्याणक प्रतिष्ठा हुई थी। उस समय चारित्र चक्रवर्ती पद दिया गया था। आपने दीक्षाएँ दी उनमें क्षुल्लक शान्तिसागरजी दक्षिण को ऐलक दीक्षा दी जो वर्तमान में आचार्य शान्तिसागर (दक्षिण) के नाम से प्रसिद्ध हैं। आचार्य महावीरकीर्ति जी महाराज जिनका जन्म फिरोजाबाद में

हुआ उनको मुनि दीक्षा दी एवं अपना आचार्य पद प्रदान किया।

परन्तु पूज्य अंकलीकर आचार्य ने अपने आचार्यत्व काल में चतुर्विध संघ के कुशल अनुशास्ता बनकर जिनशासन की अभूतपूर्व प्रभावना की प्रभावना के साथ-साथ निरन्तर पठन-पाठन लेखन आदि कार्य अविरल रूप से चलते रहे जिससे उनके द्वारा रचित शिव पथ नामक ग्रन्थ श्रमण एवं श्रावक के लिए अमूल्य धरोहर निधि के रूप में सभी के समक्ष हैं। उसके बाद आचार्य अंकलीकर जी ने अपनी विद्वत्ता का परिचय देते हुए प्रायश्चित्त ग्रन्थ की भी रचना की है। जो कि श्रमण समाज के लिए एक अमर देन सिद्ध हुई है। इसमें उन्होंने जैन सिद्धान्तों के अध्ययन के आधार पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा सहित व्रतों की शुद्धि हेतु दण्ड का प्रावधान लिखा है जो कि इस प्रकार उदाहरणार्थ हैं। वे लिखते हैं कि-

आत्मादेय गुरुन् कृत्वा साक्षिणो दोष शुद्धये।
मनोवाक्काय संशुद्धया क्रियेन व्यंप्रतिक्रमं॥

- अंकलीकर आचार्य कृत प्रायश्चित्त ग्रन्थ श्लोक - ४१

अंकलीकर आचार्य लिखते हैं कि गुरु की साक्षी में आत्म समर्पण करने से ही दोषों की शुद्धि होती है उस शुद्धि के लिए मन वचन काय शुद्ध करके प्रतिक्रमण करना चाहिए। आचार्य श्री ने अपने प्रायश्चित्त विधान ग्रन्थ में गृहस्थियों के लिए प्रायश्चित्त विधि लिखी है उसमें उन्होंने लिखा है कि-

स्वप्ने प्रमादनो वाधमूल व्रत परिच्युतो।
सर्व शुद्धि महास्नानं तपोवल्ली तपश्चरेत्॥ ५४॥

- अंकलीकर आचार्य कृत प्रायश्चित्त विधान श्लोक ५४

अर्थात् वे लिखते हैं कि स्वप्न में प्रमाद से समूल व्रतों से गिर जाता है उसके लिए सर्वशुद्धि प्रायश्चित्त और तप रूपी जल से स्नान करना चाहिए। प्रायश्चित्त भी पूर्वाचार्यों के कथनानुसार शक्ति आदि की अपेक्षा देखकर ही देना चाहिए। जैसा कि लिखा है -

तदेतन्नवविधं प्रायश्चित्तं देशकालशक्तिसंयमाद्यविरोधेनाल्पान-

ल्पापराधानुरूप दोष प्रशमनं चिकित्सितवद्वि धेयं। जीवस्यासंख्येयलोक मात्र परिणामाः परिणामविकल्पाः अपराधाश्च तावन्त एवं न तेषां तावद्वि-कल्पं प्रायश्चित्तमस्ति व्यवहार नयापेक्षया पिण्डीकृत्य प्रायश्चित्त विधान मुक्तं।

- राजवार्तिक

देश, काल, शक्ति और संयम में किसी तरह का विरोध न आने पावे और छोटा बड़ा जैसा अपराध हो उसके अनुसार वैद्य के समान दोषों का शमन करना चाहिए। प्रत्येक जीव के परिणामों के भेदों की संख्या असंख्यात लोक मात्र है, और अपराधों की संख्या भी उतनी है परन्तु प्रायश्चित्त के उतने भेद नहीं कहे हैं।

इसी बात को दृष्टिगत रखते हुए परम पूज्य मुनि कुञ्जर समाधि सम्राट श्री **१०८ आचार्य आदिसागरजी महाराज 'अंकलीकर'** ने अपने ज्ञान बुद्धि विवेक सहित इस प्रायश्चित्त विधान ग्रन्थ की रचना करके श्रावकोचित प्रायश्चित्त की व्यवस्था की है वे अपने इस ग्रन्थ में और आगे लिखते हैं।

अस्पृश्यां विलोकेपित तद्भवः श्रुतिगोचरे।
भोजनं परिहर्तव्यं दुर्दशा श्रवणे पित ॥ ७४ ॥

- अंकलीकर आचार्यकृत प्रायश्चित्त विधान

इस प्रकार अनेकानेक इस प्रायश्चित्त विधान नामक ग्रन्थ में आचार्य श्री ने व्यवस्थाएँ देते हुए आचार संहिता को मजबूत बनाया है और अपने आचार्यत्व में चतुर्विध संघ का परिपालन करके निर्दोष मुनि चर्या चरणानुयोग अनुसार करके श्रमण धर्म का पुर्नउत्थान किया और श्रमण चर्या निर्दोष रीति से पालन करने की विधि बताई जिसका प्रतिफल आज वर्तमान में उपस्थित है ऐसे स्वपरोपकारी आचार्य भगवन्त चरणों में तीन भक्ति सहित तीन बार नमोस्तु करता हूँ और सर्वज्ञ परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ कि उन्हीं के समान मन बल, वचन बल और काय बल प्राप्त हो जिससे कि मैं जिनेन्द्र परमात्मा के गुण की संपत्ति प्राप्त करने के लिए समाधि पूर्वक मरण करके शाश्वत सत्ता को प्राप्त कर सकूँ।

बालाचार्य योगीन्द्र सागर "सागर"

प्राक्कथन............

मुनिकुञ्जर समाधि सम्राट् आचार्य भगवन्त श्री १०८ आदिसागर जी महाराज (अंकलीकर) [illegible], निर्भीक महासन्त थे। आपने सभी अनुयोगों का अध्ययन कर उभयधर्म की महिमा व गरिमा को आत्मासात् किया। यतिधर्म का स्वयं आचरण कर शुद्ध मुनिचर्या का प्रत्यक्ष दिग्दर्शन कराया ही है। साथ ही मुनिधर्म का साधक-हेतु श्रावक धर्म का भी परिशोधन करने का उपदेश दिया। श्रावकों का कर्तव्य क्या है ? उनका शुद्धाचरण किस प्रकार का हो, दोषों की शुद्धि का उपाय क्या है ? इत्यादि प्रश्नों का सरल, सुबोध समाधान किया है। सिद्धान्त है कि "**कारणानुविधायिकार्यम्**" जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य होता है। श्रावक धर्म कारण है तो यति धर्म कार्य। अतः आपने साधन के परिशोधनार्थ यह "**प्रायश्चित्त**" ग्रन्थ रचा है। इसमें श्रावक की चर्या, कर्तव्य और कर्तव्य निर्वाह में प्रमाद-कषायवश होने वाले दोषों के परिशोधन का आगमोक्त सरल, सुस्पष्ट उपाय निरूपित किया है।

श्रावक की प्रतिदिन की चर्या किस प्रकार की हो, उनके नित्य नियम-कर्तव्यों का वर्णन भी बड़े ही सरल ढंग से समझाया है। जिनेन्द्र भक्ति का माहात्म्य, पंचामृताभिषेक की विशिष्ट महिमा का दिग्दर्शन कराया है। जिनाभिषेक और महामंत्र नमस्कार का सुगंधित पुष्पों से जाप अनेकों दोषों का परिहार कर देता है। अधिकांश अपराधों के शोधन का प्रायश्चित्त जिनपूजाभिषेक और गुरुभक्ति से ही होता है।

श्रावक को ध्यान-धर्मध्यान व स्वाध्याय का भी विधान निरूपित किया है। आत्मोन्मुख होने का बीज श्रावक धर्म ही है। यहीं से ध्यान, अध्ययन, दोषों की परिशुद्धि का प्रयास, कष्ट सहिष्णुता, त्याग, तप, संयम का प्रारम्भ प्रयत्न शुरु होता है। इस ग्रन्थ के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि मूल बीज धर्म का, मुक्तिपथ का श्रावकाचार ही है।

जिस प्रकार प्रासाद की नींव Foundesion मजबूत है तो महल भी निरापद टिकाऊ होगा, कितनी ही मंजिलें बना लो तथाऽपि स्थाई रह सकेगा, इसी प्रकार श्रावक धर्म निष्ठ श्रावक-श्राविकाएँ ही दिगम्बर दीक्षा धारण करने में सक्षम हो सकते हैं। यति धर्म का श्रीगणेश श्रावकाचार निष्णात् ही कर सकता है। कहा भी है **"जे कम्मेशूराः ते धम्मे शूराः।"**

प्रायश्चित्त जीवन सुधार की प्रणाली है। जीवन प्रवाह है, इसकी धारा अनेकों रूपों में प्रवाहित होती है। समयानुकूल इसमें प्रमाद कषायवश दोषोत्पादन होना स्वाभाविक है। जिस प्रकार नदी नालों में प्रवाहित नीर में अनेकों कूड़ा-कचरा, मिट्टी आदि का मिश्रण हो जाता है तो फिल्टर आदि यंत्रों से उसे निकालकर जल को स्वच्छ-निर्मल कर लिया जाता है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी, आत्मार्थी व्यक्ति भी अज्ञान, मोह, मिथ्यात्व, प्रमाद, कषायादि वश धर्माचरण, सदाचार, शीलाचारादि में उत्पन्न दोषों का निराकरण करने को प्रायश्चित्त रूपी फिल्टर का प्रयोग करते हैं। इसके मर्मज्ञ आचार्यादि परम गुरु होते हैं। अतः निन्दा, गर्हा, आलोचनादि गुरुदेव की साक्षी में कर मुमुक्षु आत्मा को जीवन को सुसंस्कृत कर निर्दोष बना लेता है। निर्मल आत्मा ही मोक्ष पथारूढ़ हो परमात्म पद पाने में समर्थ होता है।

जिस प्रकार रोगी औषधि के साथ पथ्य भी सेवन करता है, तभी आरोग्य पाता है। उसी प्रकार साधक भी स्व कर्त्तव्यनिष्ठ हो, तप, त्याग, संयम, शील व्रतादि का अनुष्ठान रूपी औषधि सेवन के साथ प्रायश्चित्त रूपी पथ्य का भी विधिवत् यथोक्त-आगमानुसार आचरण करता है तभी संसार रोग-जन्म-जरा-मरण-व्याधि से छुटकारा पा स्वास्थ्य लाभ पाता है। अतः यह ग्रन्थ प्रत्येक भव्यात्मा को पठनीय, चिन्तनीय, आचरणीय है। अवश्य पाठक लाभान्वित होंगे, इसी आशा से हिन्दी अनुवाद किया है गुरुदेव आज्ञा व आशीर्वाद से।

१०५ प्र. म. आ. विजयामति, मजर्पथा

मंतव्य

प्रायश्चित्त नामका अंतरंग तप है उसका लक्षण कुंदकुंदाचार्य इस प्रकार लिखते हैं -

प्रायश्चितं ति तवोजेण विसुज्कादि हु पुव्वकमणावं।
प्रायश्चित्तं पत्तो त्रि तेण वुत्तं दसविहं तु ॥ १८४ ॥

जिस तप से पूर्व काल में किया गया पातक नष्ट होकर आत्मा निर्मल होता है उसको प्रायश्चित्त तप कहते हैं। अर्थात् पुनरपि विशुद्ध होने पर पूर्व व्रतों से साधु परिपूर्ण होते हैं। इस तप के आचार्यों ने दस भेद कहे हैं।

आलोयण पड़िकमणं उभय विवेगोतहा विउसग्गो।
तव छेहो मूलं विय परिहारो चेव सदहणा ॥ १८५ ॥

आचार्य अथवा देव के पास आकर चारित्रासार पूर्वक उत्पन्न हुए अपराधों को निवेदन करना आलोचना प्रायश्चित्त कहलाता है। रात्रि भोजन त्याग सहित पंच महाव्रतों का उनके भावना के साथ उच्चारण करना प्रतिक्रमण नामका प्रायश्चित्त होता है। इसमें दिवस प्रतिक्रमण अथवा पाक्षिक प्रतिक्रमण करना चाहिए। आलोचना और प्रतिक्रमण करना उभय प्रायश्चित्त कहलाता है। गण विवेक और स्थान विवेक ऐसे विवेक के दो भेद हैं। कायत्सर्ग करना व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त होता है। अनशनादिक को तप प्रायश्चित्त कहते हैं। पक्ष, मास, वर्ष इत्यादिक काल के प्रमाण से दीक्षा कम करना छेद प्रायश्चित्त कहलाता है। पुनः प्रारम्भ से दीक्षा देना मूल प्रायश्चित्त कहलाता है। परिहार के दो प्रकार हैं। गणप्रतिबद्ध परिहार, अगणप्रतिबद्ध परिहार। जहाँ मुनि लघुशंका करते हैं, शौच करते हैं ऐसे स्थान पर जो बैठता है और पींछी आगे करके जो वंदना करता है। तथा इन मुनि जिसको वंदना नहीं करते हैं इस प्रकार गण में जो क्रिया करना वह गण प्रतिवाद, परिहार प्रायश्चित्त कहलाता है। जिस देश में धर्म का स्वरूप लोगों को मालूम नहीं है ऐसे देश में जाकर मौन तपश्चरण करना अगणप्रतिबद्ध परिहार प्रायश्चित्त कहलाता है। तत्व में रुचि करना या क्रोधादिकों का परित्याग

करना श्रद्धान नामक प्रायश्चित होता है। कोई दोष आलोचना से दूर होता है। कोई दोष प्रतिक्रमण से दूर होता है। कोई दोष आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों उपायों से दूर होता है। कोई दोष विवेक से दूर होता है। कोई दोष कायोत्सर्ग से नष्ट होता है। कोई दोष छेद से नष्ट होता है। कोई दोष मूल से नष्ट होता है। कोई दोष परिहार से नष्ट होता है और कोई दोष श्रद्धान से नष्ट होता है। इस प्रकार दोषों को नष्ट करने के दस प्रकार का उपाय बतलाया गया है। इसको ही क्षेपण, निर्जरण, शोधन, धावन, पुंछन (निराकरण), उत्छेदन और छेदन ऐसे आठ नाम हैं।

जो आचार्य प्रायश्चित्त और सिद्धांत शास्त्रों के जानकार है और पंचाचार में लीन हैं उनके समीप एकांत में बैठकर अपने व्रत, तप आदि की शुद्धि के लिए बिना किसी छल कपट के मन, वचन, काय कृत कारित अनुमोदना से किये हुए समस्त अतिचारों का निवेदन करना आलोचना कहलाता है। इस आलोचना के आकंपित, अनुमानित, दृष्ट, बादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकूलित, बहुजन, अव्यक्त, तत्सेवित ये दश दोष हैं। मुनियों को इन दश दोषों से रहित आलोचना करना चाहिए।

यदि आचार्य को कोई सुंदर ज्ञानोपकरण दे दिया जाये तो आचार्य संतुष्ट हो जायेंगे और मुझे थोड़ा प्रायश्चित्त देगें। यही समझ कर जो आचार्य को पहले ज्ञानोपकरण देता है और फिर उनके समीप जाकर आलोचना करता है उसको **आकंपित** नामका दोष लगता है। मेरे शरीर में पित्त प्रकृति का अधिक प्रकोप है अथवा मैं स्वभाव से ही दुर्बल हूँ, अथवा मैं रोगी हूँ इसलिए मैं अधिक या तीव्र उपवासादि नहीं कर सकता। यदि मुझे बहुत थोड़ा प्रायश्चित्त दिया जायेगा तो मैं अपने समस्त दोषों का निवेदन प्रकर रीति से कर दूंगा अन्यथा नहीं इस प्रकार कहकर जो शिष्य आचार्य के समीप अपने दोष निवेदन करता है उसको **अनुमानित** दोष लगता है। जो शिष्य दूसरों के द्वारा बिना देखे हुए दोषों को छिपा लेता है। और दिखे हुए दोषों को निवेदन करता है उसके आलोचना **दृष्ट** नामका दोष लगता है। जो बालक मुनि वा अज्ञानी मुनि अपने आलस प्रमाद वा अज्ञान से छोटे-छोटे अपराधों को तो निवेदन नहीं करता किन्तु अपने आचार्य को स्थूल

दोषों को निवेदन करता है उसको चौथा बादर नामका दोष लगता है। जो अज्ञानी मुनि अपने अपयश के भय से अथवा कठिन तपश्चरण के भय से अथवा देखो इसके कैसे शुद्ध भाव हैं जो सूक्ष्म दोषों को भी अच्छी तरह प्रगट कर देता है। इस प्रकार के अपने गुणों के प्रगट होने की इच्छा से सैंकड़ों बड़े-बड़े स्थूल दोषों को तो छिपा लेता है तथा मायाचारी से आचार्य के सामने महाव्रतादिकों के सूक्ष्म दोषों को निवेदन कर देता है उसको पाँचवा **सूक्ष्म** नामका दोष लगता है। जो शिष्य लोभ फैलाने वाली अपनी अपकीर्ति के भय से अपने दोषों को दूर करने के लिए सुश्रूषा करके गुरु से पूछता है कि हे स्वामिन्! इस प्रकार अतिचार लगने पर कैसा प्रायश्चित्त होना चाहिए इस प्रकार किसी भी उपाय से पूछ कर वह जो प्रायश्चित्त लेता है वह अनेक दोषों को उत्पन्न करने वाला **छन्न** नामका दोष लगता है। जिस समय पाक्षिक आलोचना हो रही हो अथवा वार्षिक आलोचना हो रही है अथवा किसी शुभ काम के लिए महात्माओं का समुदाय इकट्ठा हुआ हो, तथा सब इकट्ठे मिल कर अपनी-अपनी आलोचना कर रहे हो और उन सबके शब्द ऊंचे स्वर से निकल रहे हो उस समय अपने दोष कहना जिससे किसी को मालूम न हो सके उसको **शब्दाकूलित** नामका दोष लगता है। आचार्य ने किसी शिष्य को प्रायश्चित्त दिया हो और फिर वह यह शंका करे कि आचार्य ने जो यह प्रायश्चित्त दिया है वह प्रायश्चित्त ग्रंथों के अनुसार ठीक है या नहीं तथा ऐसी शंका कर जो दूसरे किसी आचार्य से पूछता है उस समय उस प्रायश्चित्त लेने वाले के **बहुजन** नामका दोष लगता है। जो मुनि जिनागम को न मानने वाले अपने ही समान किसी मुनि के समीप जाकर अपने बड़े-बड़े दोषों की आलोचना करता है आचार्य से आलोचना नहीं करता उसके **अव्यक्त** नामका दोष लगता है। जो मुनि यह समझकर कि मेरे व्रतों में जो अतिचार लगा है वह ठीक वैसा ही है जैसा कि अमुक मुनि के व्रतों में अतिचार लगा है। इसलिए आचार्य ने जो प्रायश्चित्त इसको दिया है वही प्रायश्चित्त मुझे ले लेना चाहिए। यही समझकर जो बिना आलोचना के तपश्चरण के द्वारा अपने व्रतों को शुद्ध करता है उसके अन्तिम **तत्सेवित** नामका दोष लगता है।

जो मायाचारी शल्य से सहित मुनि इन दश दोषों में से किसी भी दोष के साथ आलोचना करते हैं उनकी उस आलोचना से व्रतों की शुद्धि थोड़ी सी भी नहीं होती है। जो मुनि इन दश दोषों को छोड़कर बालक के समान सरल स्वभाव से अपने दोषों को कह देते हैं उन्हीं की आलोचना से उसके सब व्रत शुद्ध हो जाते हैं। जिस प्रकार मलिन दर्पण अपना कुछ काम नहीं कर सकता उसमें मुख नहीं दिख सकता उसी प्रकार महातपश्चरण और महाव्रत भी बिना आलोचना के अपना कुछ भी काम नहीं कर सकते अर्थात् उनसे कर्मों का संवर या निर्जरा नहीं हो सकती। यही समझकर अपने हृदय में अपने दोषों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए और फिर अपने हृदय से गुरु के समीप उन दोषों को प्रगट कर देना चाहिए। जिस समय आचार्य एकांत में अकेले विराजमान हो उस समय अकेले शिष्य को उनके समीप जाकर अपने दोष कहने चाहिए। किसी के सामने अपने दोष नहीं कहने चाहिए।

आर्यिकाएँ दिन में ही प्रकाश में किसी को साथ लेकर आचार्य के समीप जाकर अपने दोषों की आलोचना करती है ऐसा सज्जन लोग समझते हैं। जो मुनि दोषों की आलोचना कर लेता है परन्तु उस दोष को दूर करने वाले तपश्चरण को नहीं करता उस प्रमादी के दोषों की शुद्धि कभी नहीं हो सकती। यह समझ कर शिष्यों को बहुत ही शीघ्र दोषों को दूर करने वाला प्रायश्चित्त लेना चाहिए। प्रायश्चित्त के लेने में थोड़ी सी भी देर नहीं करनी चाहिए। दिन वा रात के व्रतों में जो अतिचार लगे हों उनको मन, वचन, काय की शुद्धता पूर्वक निंदा, गर्हा के द्वारा शुद्ध करना प्रतिक्रमण कहलाता है। व्रतादिकों के कितने ही दोष आलोचना से नष्ट होते हैं और दुस्वप्न आदि से उत्पन्न होने वाले कितने ही दोष प्रतिक्रमण से नष्ट होते हैं। यही समझकर पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक दोषों को दूर करने के लिए वचन पूर्वक जो आलोचना सहित प्रतिक्रमण किया जाता है उसको तदुभय कहते हैं। द्रव्य से अन्न पान उपकरण आदि के दोषों से शुद्ध हृदय से अलग रहना विवेक है यह विवेक अनेक प्रकार का है। अथवा मूल से त्याग की हुई वस्तु का ग्रहण हो जाये और स्मरण हो आने पर फिर उसका त्याग कर दिया

जाये उसको **विवेक** कहते हैं। असुभी चिंतन आर्तध्यानः दः स्वप्न दुर्ध्यान आदि से उत्पन्न हुए दोषों को शुद्ध करने के लिए अथवा मार्ग में चलना नहीं पार होना तथा और भी ऐसे ही ऐसे कार्यों से उत्पन्न हुए अतिचारों को शुद्ध करने के लिए उत्तम ध्यान को धारण कर जो बुद्धि पूर्वक शरीर के ममत्व का त्याग करता है उसको श्रेष्ठ **कायोत्सर्ग** कहते हैं। व्रतों के अतिचार दूर करने के लिए उपवास करना आचरण करना निर्विकृति (रसत्याग) करना अथवा एकाशन करना आदि यदि किसी भय से उन्माद से प्रमाद से अज्ञानता से या असमर्थता से अथवा विस्मरण हो जाने से वा और भी ऐसे ही ऐसे कारणों से व्रतों में अतिचार लगे हैं तो उनको दूर करने के लिए समर्थ अथवा असमर्थ मुनि को अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार ऊपर लिखे छहों प्रकार के प्रायश्चित्त देने चाहिए। यदि कोई मुनि चिरकाल का दीक्षित हो या शूरवीर हो या अभिमानी हो और वह अपने व्रतों में दोष लगावे तो उसको एक महीना, दो महीना, एक वर्ष, दो वर्ष आदि की दीक्षा का छेद कर देना चाहिए। वह **छेद** नामका प्रायश्चित्त कहलाता है। जो महा दोष उत्पन्न करने वाले पार्श्वस्थ आदि पांच प्रकार के मुनि है अथवा जिन्होंने अपने ब्रह्मचर्य का घात कर दिया है। ऐसे मुनियों की सब दीक्षा का छेद कर उनको फिर से दीक्षा देना **मूल** नाम का प्रायश्चित्त है।

परिहार प्रायश्चित्त के दो भेद हैं एक **अनुपस्थान** और दूसरा **पारंभिक**। यही परिहार नाम का प्रायश्चित्त पहले के तीन संहननों को धारण करने वालों को ही दिया जाता है। भगवान गणधर देव ने अपने जिनागम में अनुप्रस्थान के भी दो भेद कहे हैं एक तो अपने ही संघ में अपने ही आचार्य से परिहार नामका प्रायश्चित्त लेना और दूसरा दूसरे गण में जाकर प्रायश्चित्त लेना। जो मुनि चोरी करके अन्य मुनि के साथ रहने वाले किसी मुनि को, अच्छी आर्यिकाओं को, विद्यार्थी को, बालक को, गृहस्थ को व परस्त्री को अथवा द्रव्य पाखंडियों को अन्य अचेतन पदार्थों को अपहरण करके अथवा किसी मुनि को मार डाले अथवा ऐसा ही कोई अन्य विरुद्धाचरण करे तथा वह मुनि नौ वा दश पूर्व का धारी हो, उत्कृष्ट हो, चिरकाल का दीक्षित हो, शूर हो, समस्त परिसहों को जीतने वाला हो और दृढ़

धर्मी हो ऐसे मुनि को भगवान जिनेन्द्र देव ने अपने ही गण का अनुप्रस्थान प्रायश्चित्त व्रत बतलाया है उसके लिए परगण संबंधी अनुप्रस्थान, अनुप्रस्थान प्रायश्चित्त नहीं बतलाया है। इस स्वगण अनुप्रस्थान प्रायश्चित्त को धारण करने वाला मुनि शिष्यों के आश्रम से बत्तीस दण्ड दूर रहता है, जो अन्य मुनि दीक्षा से छोटे हैं उनको भी वंदना करता है परन्तु वे छोटे मुनि भी उसको प्रति वंदना नहीं करते। वह मुनि मौन धारण करता है अन्य मुनियो के साथ गुरु के सामने मौन धारण करता हुआ ही समस्त दोषों की आलोचना करता है और अपनी पींछी को उल्टी रखता है। कम से कम पाँच-पाँच उपवास करके पारणा करता है तथा अधिक से अधिक छः महीने का उपवास कर पारणा करता है और मध्यम वृत्ति से छह दिन, पन्द्रह दिन एक महीना आदि का उपवास कर पारणा करता है। इस प्रकार वह शक्तिशाली मुनि अपनी शक्ति के अनुसार अनेक प्रकार के उपवास करता हुआ पारणा करता है और इस प्रकार के अद्भुत प्रायश्चित्त को बारह वर्ष तक करता है।

यदि वही चिर दीक्षित शूर वीर मुनि अपने अभिमान के कारण ऊपर लिखे दोषों को लगावे तो उसके लिए आचार्यों ने समस्त दोषों को दूर करने वाला पर गणोपस्थान नाम का परिहार प्रायश्चित्त बतलाया है। उसकी विधि यह है कि आचार्य उस अपराधी को अन्य संघ के आचार्य के पास भेजते हैं। वे दूसरे आचार्य भी उसकी कही सब आलोचना को सुनते हैं तथा बिना प्रायश्चित्त दिये उसको तीसरे आचार्य के पास भेज देते हैं। वे भी आलोचना सुनकर चौथे आचार्य के पास भेज देते हैं। इस प्रकार वह सात आचार्य के पास भेज देते हैं। तदनंतर वे आचार्य ऊपर लिखा परिहार नामका प्रायश्चित्त देते हैं और वह शक्तिशाली मुनि उन सब प्रायश्चित्त को धारण करता है। इस प्रकार जैन शास्त्रों के अनुसार परिहार दो प्रायश्चित्त के भेद कहे गये हैं।

अब अत्यन्त कठिन ऐसे पारंभिक नाम के प्रायश्चित्त बतलाये हैं। जो मुनि, तीर्थंकर, गणधर, संघ, जिनसूत्र की निन्दा करता है धर्मात्माओं की निन्दा करता है अथवा बिना राजा की सम्मति के उसके मंत्री आदि को जिन दीक्षा दे

देता है अथवा राजघराने की स्त्रियों को सेवन करता है अथवा और भी ऐसे ही ऐसे दुराचार कर जो जिनधर्म को दूषित करता है उसके लिए आचार्यों ने पारंभिक नाम का प्रायश्चित्त निश्चित किया है। उस प्रायश्चित्त को देते समय अपने संघ के चारों प्रकार के मुनि इकट्ठे होते हैं और मिलकर घोषणा करते हैं कि यह मुनि महापापी है इसलिए अवंदनीय है और श्री जिनशासन से बाहर है। तब वे आचार्य उसको कठिन अनुप्रस्थान नाम का प्रायश्चित्त देते हैं। तथाकस अपराधी मुनि को वे आचार्य अपने देश से निकाल देते हैं। मजबूत संहनन को धारण करने वाला धीर वीर महा बलवान वह मुनि भी जिस देश में जिन धर्म न हो उस क्षेत्र में जाकर गुरु के दिये हुए समस्त दोषों को शुद्ध करने वाले पूर्ण प्रायश्चित्त को अनुक्रम से पालन करता है इसको पारंभिक अनुप्रस्थान प्रायश्चित्त कहते हैं।

मिथ्यादृष्ट्युपदेशाथै र्मिथ्यात्वं च गतस्य या।
दृग्विशुद्ध्यैरुचिस्तत्वादौ श्रद्धानं तदभ्दुतं ॥ ८२ ॥

मिथ्यादृष्टियों के उपदेशादिक से जिसने मिथ्यात्व को धारण कर लिया है वह यदि अपना सम्यग्दर्शन शुद्ध करने के लिए तत्वों में या देव शास्त्र गुरु में श्रद्धान कर लेता है उसको उत्तम श्रद्धान नाम का प्रायश्चित्त कहते हैं।

श्रेष्ठ व्रतों को शुद्ध करने के लिए यह दश प्रकार का प्रायश्चित्त बतलाया है मुनियों को अपने-अपने समय के अनुसार युक्ति पूर्वक इनका पालन करना चाहिए। जो मूर्ख अभिमानी मुनि अपने तपश्चरण को महा तपश्चरण समझ कर व्रत आदिक के दोषों को शुद्ध करने के लिए प्रायश्चित्त नहीं करता उसके समस्त व्रतों को तथा समस्त तपश्चरण को वे दोष शीघ्र ही नष्ट कर देते हैं तथा उन व्रत और तप के नाश के साथ-साथ उसके समस्त गुण नष्ट हो जाते हैं। जैसे कि सड़ा हुआ एक पान अन्य सब पानों को सड़ा देता है। उसी प्रकार एक ही दोष से सब व्रत तप गुण नष्ट हो जाते हैं। इस प्रायश्चित्त को धारण करने से मन शल्य रहित हो जाता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानादिक गुणों के समूह सब निर्मल हो जाते हैं, चारित्र चंद्रमा के समान निर्मल हो जाता है, वे मुनि संघ में माननीय माने जाते हैं उन्हें किसी प्रकार का भय नहीं रहता और उनका मरण शल्य रहित सर्वोत्तम होता

है। इस प्रकार प्रायश्चित्त धारण करने से सज्जनों को बहुत से गुण प्रगट हो जाते हैं। यही समझकर मुनियों को अपने व्रतों में जब कभी दोष लग जाये उसी समय में अपने व्रतों को शुद्ध करने के लिए प्रायश्चित्त धारण करना चाहिए।

इंदिय कसाय उवधीण भत्तपाणस्य चाविदेहस्स।
एसविवेगो मणिदो पांचविधो दव्व भावगदो ॥ १६८ ॥

अहवा सरीरसेज्जा संथारूवहीण भत्तपाणस्स।
वच्चावच्च कराण य होई विवेगो तहा चेव ॥ १६९ ॥

इन्द्रिय विवेक, कषाय विवेक, भक्त पान विवेक, उपधि विवेक, देहविवेक, ऐसे विवेक के पांच प्रकार पूर्वागम में कहे गये हैं। अथवा शरीर विवेक वसति संस्तर विवेक, उपकरण विवेक, भक्तपान विवेक और वैयावृत्य करण विवेक ऐसे पांच भेद कहे गये हैं। वे इस प्रकार हैं। रूपादि विषयों में नेत्रादिक इंद्रियों की आदर से अथवा कोप से प्रवृत्ति न होना। अर्थात् यह रूप मैं देखता हूँ शब्द मैं सुन रहा हूँ ऐसे वचनों का उच्चारण न करना द्रव्यतः इन्द्रिय विवेक है। रूपादि विषयों का ज्ञान होकर भी राग द्वेष से भिन्न रहना अर्थात् रागद्वेष मुक्त ऐसी रूपादिक विषयों में मानसिक ज्ञान की परिणति न होना भावतः इंद्रिय विवेक है। द्रव्यतः कषाय विवेक के शरीर से और वचन से ऐसे दो भेद हैं।

भौहें संकुचित करना इत्यादि शरीर की प्रवृत्ति न होना काय क्रोध विवेक है। मैं मरूँगा इत्यादि वचन का प्रयोग न करना वचन क्रोध विवेक है। दूसरों का पराभव करना वगैरह के द्वेष पूर्वक विचार मन में न लाना यह भाव क्रोध विवेक है। इसी प्रकार द्रव्य मान, माया, लोभ कषाय विवेक भी शरीर और वचन के व भाव के भेद से तीन तीन प्रकार के हैं। उसमें शरीर के अवयवों को न अकड़ाना, मेरे से अधिक शास्त्र प्रविष्ट कौन है ऐसे वचनों का प्रयोग न करना ये काय व वचनगत मान विवेक है। मन के द्वारा अभिमान को छोड़ना भावमन कषाय विवेक है। मानों अन्य के विषय में बोल रहा है ऐसा दिखाना, ऐसे वचनों का त्याग करना अथवा कपट उपदेश न करना वाचा माया विवेक है। शरीर से एक

कार्य करता हुआ भी मैं अन्य ही कर रहा हूँ ऐसा दिखाने का त्याग करना काय माया विवेक है। जिस पदार्थ में लोभ है उसकी तरफ हाथ पसारना इत्यादिक शरीर क्रिया न करना काय लोभ विवेक है। इस वास्तु ग्राम आदि का मैं स्वामी हूँ ऐसे वचन उच्चारण न करना वाचा लोभ विवेक है। ममदं भावरूप मोहन परिणति कौन होने देने भाव लोभ विवेक है। शरीर को तुम पीड़ा मत करो अथवा मेरा रक्षण करो इस प्रकार के वचनों का न करना वाचा शरीर विवेक है। जिस वसतिका में पूर्व काल में निवास किया था उसमें निवास न करना और इसी प्रकार पहले वाले संस्तर में न सोना बैठना काय वसति संस्तर विवेक है। मैं इस वसति संस्तर का त्याग करता हूँ। ऐसे वचनों का बोलना वाचा वसति संस्तर विवेक है। शरीर के द्वारा उपकरणों को ग्रहण न करना काय उपकरण विवेक है। मैंने इन ज्ञानोपकराणदि का त्याग किया है ऐसा वचन का बोलना वाचा उपकरण विवेक है। आहार पान के पदार्थ भक्षण न करना काय भक्त पान विवेक है। इस तरह का भोजन पान मैं ग्रहण नहीं करूँगा ऐसा वचन बोलना वाचा भक्त पान विवेक है।

वैयावृत्य करने वाले अपने शिष्यादिकों का सहवास न करना काय वैयावृत्य विवेक है। तुम मेरी वैयावृत्य मत करो ऐसे वचन बोलना वैयावृत्य विवेक है। सर्वत्र शरीरादिक पदार्थों पर से प्रीति का त्याग करना अथवा ये मेरे हैं ऐसा भाव छोड़ देना भाव विवेक है।

दोषेसति प्रायश्चित्तं गृहीत्वा विशुद्धि कारणं शुद्धिः।

अर्थात् दोष होने पर प्रायश्चित्त लेकर विशुद्धि करना शुद्धि कहलाती है। इस अपहृत संयम के प्रतिपादन के लिए ही इन आठ शुद्धियों का उपदेश दिया गया है। भाव, काय, विनय, ईर्यापथ, भिक्षा, प्रतिष्ठापन, शयनासन और वाक्य। आलोचना, शय्या, संस्तर, उपकरण, भक्तपान इस प्रकार वैयावृत्य करण शुद्धि पांच प्रकार की है। अथवा दर्शन, ज्ञान, चारित्र, विनय और आवश्यक ये पांच प्रकार की शुद्धि है। यहाँ व्याख्यान करने वाले और सुनने वालों को भी

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की शुद्धि पूर्वक व्याख्यान करने में या पढ़ने में प्रवृत्ति करनी चाहिए। काल, अग्नि, भस्म, मृतिका, गोबर, जल, ज्ञान और निर्विचिकित्सा के भेद से आठ प्रकार की लौकिक शुद्धि होती है। और लिंग, व्रत, वसति, विहार, भिक्षा, ज्ञान, उज्झन, वाक्य, तप और ध्यान इस प्रकार दस अनगार भावना सूत्र है और इनके प्रत्येक में अन्त भेद भी अनेक है।

लिंगवदं चसुद्धी वसदि विहारं च भिकूवलाणं च।
उज्झन सुद्धी य पुणो वक्कं च तवं तथा ज्झाणं ॥

निर्ग्रन्थरूपता शरीर के सब संस्कारों का अभाव अर्थात् स्नान नहीं करना, उबटन नहीं लगाना, पूर्ण नग्नता धारण करना, केशलोंच करना, हाथ में पिच्छिका ग्रहण करना, दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप धारण करना यह लिंग शुद्धि है। लिंग के अनुरूप आचरण करना यह लिंग शुद्धि शब्द का अर्थ है। व्रतों को निरतिचार पालना व्रत शुद्धि है। स्त्री, पशु, नपुंसक रहित और परम वैराग्य को कारण ऐसे भू प्रदेश को वसति कहते हैं। अनियत वास नियत स्थान में नहीं रहना रत्नत्रय निर्मल करने के लिए सर्व देशों में विहरना विहार शुद्धि है। चतुर्विधाहार-अन्न, पान, खाद्य और लेह्य ऐसे चार प्रकार के आहारों की शुद्धि अर्थात् उत्पादनादिक दोष रहित आहार ग्रहण करना भिक्षा शुद्धि है। वस्तु का जैसा स्वरूप है वैसा संशयादिक दोषों से रहित जानना अर्थात् मत्यादिक ज्ञान को ज्ञान शुद्धि कहते हैं। शरीरादि पर ममत्व नहीं करना उज्झन शुद्धि है। स्त्री कथा, भोजन कथा, राजकथा, राष्ट्रकथा इत्यादि विकथा रहित भाषण करना वाक्य शुद्धि है। पूर्व संचित कर्म मल का नाश करने में समर्थ ऐसा उपवासादिक का आचरण करना तप शुद्धि है। तथा आर्त्त रौद्र ध्यानों को छोड़कर धर्म शुक्ल ध्यान से मन को एकाग्र करना ध्यान शुद्धि है।

यह धन, जीवन, यौवन, कुटुम्बी लोग तथा और भी यह समस्त संसार बिजली की चमक के समान क्षण भंगुर है यही समझ कर और इस जगत रूपी शत्रु को मार कर जो आत्माओं को जानने वाले धीर वीर पुरुष प्रसन्न होकर उस

धन, यौवन आदि से मोह का त्याग कर देते हैं और विशुद्ध जिनलिंग धारण कर लेते हैं वह मुनियों की लिंग शुद्धि कहलाती है जिन मुनियों के समस्त शरीर पर पसीने का व पसीने में मिली हुई धूली का मल लगा हुआ है, परन्तु जो कर्म मल से सर्वथा दूर रहते हैं, जो अत्यन्त चतुर है, अत्यन्त तीव्र शीत व उष्णता के संताप से जले हुए वृक्ष के समान हो रहे हैं, जो काम और भोग से सदा विरक्त रहते हैं, अपने शरीर का कभी संस्कार नहीं करते जिन्होंने दिगम्बर मुद्रा धारण कर रखी है जो धीर-वीर है समस्त परिग्रह से रहित है, जन्म मरण और बुढ़ापे से जो अत्यन्त दुखी है, जो संसार रूपी समुद्र में पड़ने से बहुत डरते हैं जिनके नेत्र मन और मुख में कभी विकार उत्पन्न नहीं होता जो श्रेष्ठ पीछी धारण करते हैं, जो महाऋषि है, जो लिंग शुद्धि को धारण कर ही सदा अपनी प्रवृत्ति करते हैं, जो मोह रहित है, अंहकार रहित है, जो धर्म ध्यान या शुक्ल ध्यान में सदा लीन रहते हैं, जो संसार रूपी अग्नि के दाह को शांत करने के लिए मन, वचन, काय की शुद्धता पूर्वक ग्यारह अंग और चौदह पूर्व रूपी अमृत से भरे हुए अपने अंतःकरण के कर्म मल को दूर करने वाले, तीनों लोकों को शुद्ध करने वाले और सर्वोत्कृष्ट ऐसे तीर्थंकरों के धर्म तीर्थ को ही जो सदा चिंतवन करते रहते हैं, इस तपश्चरण से बढ़कर तीनों लोकों में और कोई श्रेष्ठ हित करने वाला नहीं है यही समझ कर जो बारह प्रकार के महाघोर तपश्चरण के करने में सदा उत्साह करते रहते हैं, जो पंचेन्द्रियों के सुख में उत्पन्न हुई इच्छा का निरोध करने में सदा उद्यत रहते हैं और जो प्रमाद रहित होकर शुद्ध चारित्राचरण को पालन कर तथा उत्तम क्षमा आदि दश प्रकार के उत्तम धर्मों को धारण कर सर्वोत्तम धर्म का पालन करते हैं। ऐसे भगवान अरहंत देव के लिंग को निर्ग्रन्थ अवस्था को धारण करने वाले महामुनि ऊपर लिखे अनुसार निर्मल उपायों से अपने शुद्ध आचरणों को पाल करते हैं उनके ही लिंग शुद्धि मानी गई है।

राग-द्वेष रहित प्रमाद रहित जो बुद्धिमान मुनि मोक्ष प्राप्त करने के लिए मन, वचन, काय की शुद्धता पूर्वक मुनियों की माता के समान अष्ट प्रवचन मात्रकाओं के साथ-साथ पांच समिति और तीन गुप्तियों के साथ-साथ पंच

महाव्रतों को धारण करते हैं और फिर प्रयत्न पूर्वक उनका पालन करते हैं उनके ही व्रत शुद्धि आचार्यों ने बतलाई है। जो मुनि समस्त परिग्रहों से रहित है, किन्तु रत्नत्रय रूपी परिग्रह से सुशोभित है जो अपने शरीर का प्रतिकार कभी नहीं करते है जो समस्त आरंभों से रहित है, सदा मौन व्रत धारण करते हैं जो सत्य धर्म का उपदेश देने में सदा तत्पर रहते हैं, जो बिना दिया हुआ अन्य का माल भी ग्रहण नहीं करते हैं और जो शील से सदा सुशोभित रहते हैं जो मुनियों के अयोग्य बाल के अग्रभाग के करोड़ वें भाग के समान परिग्रह को धारण करने की स्वप्न में भी कभी इच्छा नहीं करते, जो अत्यन्त संतोषी है, दिगम्बर अवस्था को धारण करते हैं जो अपना निस्पृहत्वगण धारण करने के लिए शरीर में या शरीर की स्थिरता के कारणों में कभी मोह या ममता नहीं करते और जो उत्पन्न हुए बालक के समान निर्विकार दिगम्बर शरीर को धारण करते हैं। जो मुनि अपने व्रतों को शुद्ध रखने के लिए जिन वन में या जिस श्मशान भूमि में सूर्य अस्त हो जाता है, वहीं पर बिना किसी के रोके निवास कर लेते हैं। इस प्रकार जो सर्वथा निर्मल आचरणों को पालन कर अपने व्रतों को निर्मल रीति से पालन करते हैं उनके ही जैन शास्त्रों में व्रत शुद्धि बतलाई है।

जो समस्त परिग्रहों से रहित शुद्ध हृदय को धारण करने वाले धीर-वीर मुनि अपने ध्यान की सिद्धि के लिए किसी वन में निर्जन स्थान में, सूने घर में, किसी गुफा में या अन्य किसी एकांत स्थान में या अत्यन्त भयंकर श्मशान में निवास करते हैं उसको वसति शुद्धि कहते हैं। प्रासुक स्थान में रहने वाले और विविक्त एकांत स्थान में निवास करने वाले मुनि किसी गांव में एक दिन रहते हैं और नगर में पांच दिन रहते हैं। सर्वथा एकांत स्थान को ढूंढने वाले और शुक्ल ध्यान में अपना मन लगाने वाले मुनिराज इस लोक में भी गज मदोन्मत्त हाथी के समान ध्यान के आनन्द का महासुख प्राप्त करते हैं। जिन मुनियों का हृदय विशाल है जो धीर वीर है, एकल विहारी है, अत्यन्त निर्भय है, जो वन में ही निवास करते हैं जो अपने शरीर आदि से कभी ममत्व नहीं करते और जो सर्वथा विहार करते हैं कहीं किसी से रोके नहीं जा सकते ऐसे मुनि प्रतिदिन भगवान महावीर स्वामी

के वचनों में क्रीड़ा करते हुए भयानक गुफाओं में या कंदराओं में ही निवास करते हैं। वे महापुरुष रूपी सिंह मुनिराज अपने ध्यान की सिद्धि के लिए सिंह, बाघ, सर्प और चोर आदि के द्वारा कापुरुष या भयभीत मनुष्यों को अत्यन्त भय उत्पन्न करने वाले श्मसान कंदरा आदि प्रदेशों में धीर-वीर महापुरुषों के द्वारा सेवन की हुई वसतिका में रहते हैं। अत्यन्त निर्भय और नरसिंह वृत्ति को धारण करने वाले वे महामुनिराज रात्रि में पहाड़ों की गुफाओं आदि अत्यन्त एकांत स्थान में रहते हुए तथा सिंह सर्प बाघ आदि अत्यन्त दुष्ट जीवों के भयानक और भीषण शब्दों को अत्यन्त समीप में ही सुनते हुए भी अपने ध्यान से रंचमात्र भी चलायमान नहीं होते हैं। पर्वत के समान वो निश्चल ही बने रहते हैं। करोड़ों महा उपद्रव होने पर भी अपने मन में कभी चंचलता धारण नहीं करते हैं। ऐसे चतुर मुनिराज भगवान जिनेन्द्र देव की आज्ञा पर अटल श्रद्धान रखते हुए पर्वतों की गुफाओं में ही निवास करते हैं। सद्ध्यान और अध्ययन में लगे रहने वाले तथा रात-दिन जागने वाले और प्रमाद रहित जितेंद्रिय वे मुनिराज निद्रा के वश में नहीं होते। वे मुनिराज पहाड़ों पर ही पर्यंकासन, अर्धपर्यंकासन या उत्कट वीरासन धारण कर या हाथी की सूंड के समान आसन लगाकर अथवा मगर के मुख का सा आसन लगाकर अथवा कायोत्सर्ग धारण कर या अन्य किसी आसन से बैठकर अथवा एक से लेटकर अथवा अन्य कठिन आसनों को धारण करने वाले वज्रवृषभ नाराच संहनन को धारण करने वाले और मोक्षमार्ग में निवास करने वाले वे मुनिराज अपने श्रेष्ठ ध्यान की सिद्धि के लिए सैकड़ों उपसर्ग आ जाने पर, अग्नि लग जाने पर तथा महा परीषहों के समूह आ जाने पर भी भयानक जीवों से भरे हुए भयंकर और अत्यन्त घोर दुष्कर वन में निवास करते हैं। इस प्रकार जो वीतराग मुनि अत्यन्त शुद्ध और ऊपर कहे अनुसार विषम वसति का आश्रय लेते हैं उन्हीं के वसतिका शुद्धि होती है। स्वतंत्र विहार करने वाले एकल विहारी मुनिराज सूर्य उदय के होने के बाद तथा सूर्य अस्त होने के पहले प्रासुक मार्ग में केवल धर्म की प्रवृत्ति के लिए गमन करते हैं तथा आगे की चार हाथ भूमि अपने दोनों नेत्रों से देखते हुए ही गमन करते हैं। उन मुनियों के ऐसे शुद्धागमन करने को

उत्तम विहार शुद्धि कहते हैं, जो मुनि जीवों की योनि, जीवसमास, सूक्ष्मकाय, बादरकाय आदि जीवों को अपने ज्ञान से जानकर समस्त जीवों पर कृपा करने में तत्पर रहते हैं, जो ज्ञानरूपी नेत्रों को धारण करते हैं और वायु के समान परिग्रह रहित हैं ऐसे मुनि मन, वचन, काय से प्रयत्न पूर्वक पापों का त्याग करते रहते हैं। वे मुनि समस्त पृथ्वी पर विहार करते हुए भी किसी भी कारण से एकेन्द्रिय आदिक जीवों की बाधा या विराधना न तो स्वयं करते है और न कभी किसी से कराते हैं। वे मुनिराज तृण पत्र प्रवाल कोमल पत्ते हरे अंकुर, कंद बीज फल आदि समस्त वनस्पति कायिक जीवों को पैर आदि से न तो कभी मर्दन करते हैं, न मर्दन कराते हैं, न उनको छेदन करते हैं, न दिखाते हैं, न स्पर्श करते हैं, न स्पर्श कराते है और न उनको पीड़ा पहुँचाते है न पहुंचवाते है, वे चतुर मुनि न तो ठोक-पीट कर पृथ्वीकायिक जीवों को बाधा पहुँचाते हैं न पहुँचवाते हैं। प्रक्षालनादि के द्वारा जलकायिक जीवों को बाधा पहुँचाते हैं न पंखा आदि से हवा कर वायुकायिक जीवों को बाधा पहुँचाते हैं और न गमन करने बैठने या सोने में त्रस जीवों को बाधा पहुँचाते हैं। वे चतुर मुनि मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदना से इन समस्त जीवों को कभी भी पीड़ा या विराधना नहीं पहुँचाते। उन मुनिराज के श्रेष्ठ हाथों में डण्डा आदि हिंसा का कोई उपकरण नहीं होता वे सर्वथा मोह रहित होते हैं और संसार रूपी भयानक समुद्र में पड़ने से सदा शंकित और भयभीत रहते हैं। यदि उनके पैर में कांटा लग जाय या तीक्ष्ण पत्थर के टुकड़ों की धार से छिद जाय और उनसे उनको पीड़ा होती हो तो भी वे बुद्धिमान मुनि अपने मन में कभी क्लेश नहीं करते हैं। क्लेश से वे सदा दूर ही रहते हैं। वे मुनिराज चर्या परिषह रूपी शत्रुओं को जीतने के लिए सदा उद्योग करते रहते हैं, तथा मेरा यह आत्मा भयानक रूप चारों गतियों में चिरकाल से परिभ्रमण करता रहता है अथवा भयानक नरकादिक योनियों में चिरकाल से परिभ्रमण करता रहा है। यह मेरे आत्मा का परिभ्रमण अत्यन्त निन्द्य है, समस्त दुःखों की खानि है और कर्म के अधीन है। इस प्रकार वे मुनिराज अपने आत्मा के परिभ्रमण को निरंतर चिंतवन करते रहते हैं। अत्यन्त निराकुल हुए वे मुनिराज अपने हृदय में

संसार शरीर और भोगों से संवेग धारण करते रहते हैं समाज आगम का चिंतवन करते रहते हैं। वे मुनिराज अपनी इच्छानुसार नगर, पत्तन, खेट, पर्वत, गाँव, जंगल, वन आदि सुन्दर असुंदर समस्त स्थानों में विहार करते रहते हैं। उस समय यद्यपि वे मार्ग को देखते हैं तथापि स्त्रियों के रूप आदि को देखने में अंधे ही बने रहते हैं। यद्यपि वे चतुर मुनि श्रेष्ठ तीर्थों की वंदना के लिए विहार करते हैं, चलते हैं तथापि कुतीर्थों के लिए वे लंगड़े के समान ही बने रहते हैं, यद्यपि वे श्रेष्ठ कथाओं को करते हैं तथापि विकथाओं को कहने के लिए गूंगे बन जाते हैं। यद्यपि उपसर्गों को जीतने के लिए वे शूरवीर हैं तथापि कर्मबंधन करने के लिए वे कायर बन जाते हैं। यद्यपि अपने शरीर आदि से वे अत्यन्त निस्पृह है तथापि मुक्ति को सिद्ध करने के लिए वे तीव्र लालसा रखते हैं। यद्यपि वे सर्वज्ञ अप्रतिबद्ध है किसी के बंधे हुए या किसी के अधीन नहीं है तथापि वे जिन शासन के सदा अधीन रहते हैं। ऐसे वे प्रमाद रहित मुनिराज मोह का ममत्व का सर्वथा त्याग करने के लिए तथा अशुभ कार्य और परीषहों को जीतने के लिए बहुत सी पृथ्वी पर विहार करते हैं। इस प्रकार सिंह के समान अपनी निर्भय वृत्ति रखने वाले और पाप रहित मार्ग में चलने वाले इन मुनियों के विहार शुद्धि कही जाती है। जो मुनि मूलाचार पूर्वक नहीं चलते उनके लिए विहार शुद्धि कभी नहीं हो सकती।

जो जितेन्द्रिय मुनिराज तपश्चरण योग और शरीर की स्थिति के लिए बेला, तेला के बाद पारणा के दिन, एक पक्ष के उपवास के बाद पारणा के दिन अथवा महीना, दो महीना के उपवास के बाद पारणा के दिन योग्य घर में जाकर कृत कारित अनुमोदना आदि के समस्त दोषों से रहित या अपना समस्त दोषों से रहित अत्यन्त, शुद्ध आहार, भिक्षावृत्ति से लेते हैं उसको भिक्षा शुद्धि कहते हैं। वे मुनिराज केवल मोक्ष प्राप्त करने के लिए सद् गृहस्थों के द्वारा योग्य काल में विधि पूर्वक पाणि पात्र में दिया हुआ मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना की शुद्धता पूर्वक छ्यालीस दोषों से रहित शुद्ध आहार खड़े होकर करते हैं। वे मुनिराज विष मिले हुए अन्न के समान सदोष आहार को छोड़ देते हैं दूर से आये हुए आहार को छोड़ देते हैं। जिसमें कुछ शंका उत्पन्न हुई है उसको भी छोड़ देते

हैं। उद्दिष्ट और आने हुए आहार को भी छोड़ देते हैं और स्वयं बनाये हुए अन्न को भी छोड़ देते हैं। वे निस्पृह मुनि अनुमोदना किये हुए आहार को भी छोड़ देते हैं तथा मौन धारण कर छोटे बड़े सब घरों की पंक्तियों में घूमते हुए आहार ग्रहण करते हैं। जिव्हा आदि समस्त इंद्रियों को कीलित करने में (वश करने में) सदा उद्यत रहने वाले वे मुनिराज पारणा के दिन बिना याचना किया हुआ ठण्डा गर्म सूखा-रूखा सरस लवण सहित, लवण रहित, स्वादिष्ट स्वाद से रहित ऐसा जो शुद्ध आहार मिल जाता है उसको ही बिना स्वाद के ग्रहण कर लेते हैं। जिस प्रकार गाड़ी को चलाने के लिए पहिये में तेल लगाते हैं उसी प्रकार प्राणों को स्थिर रखने के लिए वे मुनिराज थोड़ा सा आहार लेते हैं। वे मुनिराज धर्म के लिए प्राणों की रक्षा करते हैं और मोक्ष के लिए धर्म का साधन करते हैं। वे मुनिराज परम्परा से चले आए इस प्रकार के लाभ की सिद्धि के लिए तथा आत्म शुद्ध करने के लिए आहार लेते हैं स्वाद के लिए आहार नहीं लेते। यदि अच्छा सुन्दर आहार मिल जाय तो वे संतुष्ट नहीं होते और यदि आहार न मिले या मिले भी तो अशुभ अन्न मिले तो वे मुनिराज अपने मन में कभी खेद खिन्न नहीं होते हैं। मुझे दो इस प्रकार के दीन वचन वे प्राण नाश होने पर भी कभी नहीं करते तथा श्रेष्ठ मौनव्रत को धारण करने वाले वे मुनिराज दान के लिए कभी किसी की स्तुति भी नहीं करते। जो आहार ग्रहण करने के योग्य नहीं है ऐसे अग्नि में बिना पकाया हुआ और इसीलिए अत्यन्त दोष उत्पन्न करने वाले कंद बीज फल आदि को ग्रहण करने की कभी इच्छा भी नहीं करते हैं। वे धीर वीर मुनिराज रात्रि में रखे हुए अन्न को कभी नहीं ग्रहण करते, तथा उसी दिन के बनाये हुए परन्तु स्वाद से चलित हुए अन्न को भी कभी ग्रहण नहीं करते हैं। आत्मा के स्वरूप को जानने वाले वे मुनिराज अपने व्रतों की शुद्धि के लिए आहार के दोषों से सदा डरते रहते हैं और निर्दोष आहार को ग्रहण करके भी प्रतिक्रमण करते हैं। इस प्रकार जो मुनिराज एषणा शुद्धि पूर्वक यत्नाचार पूर्वक आहार ग्रहण करते हैं उन्हीं के यह भिक्षा शुद्धि होती है अन्य किसी के नहीं।

ज्ञान रूपी नेत्रों को धारण करने वाले और दान के अभिमान से सर्वथा रहित

ऐसे मुनिराज मोक्ष प्राप्त करने के लिए काल शुद्धि, क्षेत्र शुद्धि आदि समस्त शुद्धियों के साथ-साथ विनय पूर्वक एकाग्रचित्त से अंगपूर्व या सूत्रों का जो पठन-पाठन करते हैं या पाठ करते हैं उसको सज्जन पुरुष ज्ञान शुद्धि कहते हैं। जो मुनिराज महातपश्चरण के बोझ से दबे हुए हैं। दृढ़ चारित्र को धारण करने वाले हैं, जिनका चमड़ा हड्डी आदि समस्त शरीर सूख गया है जो अपने मन में विश्वास और प्रसिद्धि आदि को भी कभी नहीं चाहते, जो महा अष्टांग निमित्त शास्त्रों के जानकार हैं समस्त आगम रूपी समुद्र के पारगामी है द्वादशांग के अर्थ को जानने वाले हैं जो अपनी बुद्धि की प्रबलता से अंगों के अर्थ को ग्रहण करने और धारण करने में समर्थ है जो अत्यन्त चतुर है पदानुसारी बीज बुद्धि कोष्ठ बुद्धि सोमिन्न बुद्धि आदि सातों प्रकार की बुद्धियों से सुशोभित है जो महाज्ञानी है, शास्त्र रूपी अमृत पान से जिन्होंने अपने कानों को अत्यन्त श्रेष्ठ बना लिया है जो सदा बुद्धिमान और महा चतुर है मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान इन चारों ज्ञानों से सुशोभित हैं जो समस्त पदार्थों के सार को जानने वाले और जो अपने मन को सदा श्रेष्ठ ध्यान में ही लीन रखते हैं ऐसे महाज्ञानी पुरुष मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक समस्त अंगों को स्वयं पढ़ते हैं, सज्जनों को पढ़ाते हैं और अनेक अर्थों का चिंतवन करते रहते हैं। इस प्रकार इस संसार में ज्ञानी पुरुषों की प्रतिदिन प्रवृत्ति रहती है। वे मुनिराज यद्यपि समस्त अंगों को जानते हैं तथापि वे किंचित भी उसका अभिमान नहीं करते तथा उससे अपनी प्रसिद्धि या बड़ापन पूजा आदि की भी कभी इच्छा नहीं करते। यह जिनवाणी रूपी अमृत का पान करना जन्म मृत्यु रूपी विष को नाश करने वाला है समस्त क्लेशों को दूर करने वाला है और पंचेन्द्रियों की तृष्णा रूपी अग्नि को बुझाने के लिए मेघ के समान है। यही समझकर वे मुनिराज जन्म मरण रूपी दाह को शांत करने के लिए और मोक्ष सुख प्राप्त करने के लिए स्वयं जिनवाणी रूपी अमृत का पान करते रहते हैं दूसरों को उसका पान कराते रहते हैं और उस लोक में उस जिनवाणी रूपी अमृत का विस्तार करते रहते हैं जो मुनिराज निरंतर ही महाज्ञान मय अपने उपयोग के वशीभूत है अर्थात् जो निरंतर ज्ञान में ही अपना उपयोग

लगाये रहते हैं उन्हीं सज्जन मुनियों के ज्ञान शुद्धि कही जाती है अन्य प्रमादी पुरुषों के ज्ञान शुद्धि कभी नहीं हो सकती।

अपने शरीर में प्रक्षालन आदि का संस्कार करना भी स्त्रियों में स्नेह उत्पन्न करने वाला है मोह रूपी शत्रु को उत्पन्न करने वाला है और अत्यन्त अशुभ है। इसलिए चतुर मुनिराज शरीर का संस्कार कभी नहीं करते हैं तथा किसी भी परिग्रह में किसी समय भी ममत्त्व भाव धारण नहीं करते ज्ञान को आचार्य लोग उज्झन शुद्धि कहते हैं। मोह से रहित वे मुनिराज मुख और दांतों को न कभी धोते हैं न कुल्ला करते हैं, न घिसते हैं, न पैर धोते हैं, न नेत्रों में अंजन लगाते हैं शरीर को धूप में सुखाते हैं, न स्नान करते हैं, न शरीर की शोभा बढ़ाते हैं न वमन विरेचन करते हैं तथा और भी ऐसे शरीर के संस्कार वे मुनिराज कभी नहीं करते हैं। अपने कर्मों के विपाक को जानने वाले वे मुनिराज पहले के असाता कर्म के उदय से अत्यन्त असह्य और असाध्य ऐसे कोढ़ ज्वर वायु का विकार या पित्त का विकार आदि सैकड़ों रोग उत्पन्न हो जाये तो वे मुनि अपने पापों का नाश करने के लिए उस दुख को सहते रहते हैं उन रोगों को दूर करने के लिए औषधि आदि के द्वारा कभी प्रतिकार नहीं करते तथा न कभी प्रतिकार करने की इच्छा ही करते हैं। निस्पृह वृत्ति को धारण करने वाले उन मुनिराजों का समस्त शरीर अनेक असाध्य रोगों की वेदना से व्याप्त हो रहा है तो भी वे अपने मन में खेद खिन्न नहीं होते हैं वे पहले के ही समान स्वस्थ बने रहते हैं उन रोगों से उनके मन में कभी विकार उत्पन्न नहीं होता है। वे मुनिराज समस्त क्लेशों को दूर करने वाले और जन्म मरण रूपी समस्त रोगों को नाश करने वाले रत्नत्रय को तथा तपश्चरण को सेवन करते रहते हैं रत्नत्रय और तप के सिवाय वे अन्य किसी का सेवन नहीं करते। यह शरीर रोग रूपी सर्पों का बिल है अत्यन्त निंद्य है यमराज के मुख में ही उसका सदा निवास है यह शुक्र रुधिररूपी बीज से उत्पन्न हुआ है सप्त धातुओं से भरा हुआ है करोड़ों अरबों कीड़ों से भरा हुआ है अत्यन्त भयानक है अत्यन्त घ्रणित है मलमूत्र आदि पदार्थों से भरा हुआ है विष्ठा आदि अपवित्र पदार्थों का पात्र है पांचो इन्द्रिय रूपी चोर इसमें निवास करते हैं समस्त दुःखों का

यह कारण है समस्त अपवित्र पदार्थों की खानि है पवित्र पदार्थों को भी अपवित्र करने वाला है भूख-प्यास, काम-क्रोध रूपी अग्नि में सदा जलता रहता है, जन्म मरण रूप संसार को बढ़ाने वाला है। राग-द्वेष से भरा हुआ है दुर्गंध और अशुभ कर्मों का कारण है तथा और भी अनेक महादोषों का मूल कारण है ऐसे शरीर को देखते हुए वे मुनिराज निरंतर उसी रूप से चिंतवन करते हैं तथा अनंत गुणों का समुद्र ऐसे अपने आत्मा को उस शरीर से सदा भिन्न मानते हैं। इस प्रकार शरीर के सुख से विरक्त हुए वे मुनिराज उस शरीर में राग कैसे कर सकते हैं ? अपने शरीर से या अन्य पदार्थों से उत्पन्न हुए वे भोग चारों गति के कारण है, संसार के समस्त दुःखों की खानि है महा पाप उत्पन्न करने वाले हैं विद्वान लोग सदा इसकी निंदा करते हैं, दाह दुख और अनेक रोगों के ये कारण हैं, पशु और म्लेच्छ लोग ही इनका सेवन करते हैं निंद्य कर्मों से ये उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार शत्रु के समान इन भोगों की इच्छा से वे मुनिराज कभी नहीं करते हैं। ये बंधु वर्ग भी मोह रूपी शत्रु की संतान है पाप के कारण है, धर्म को नाश करने वाले हैं और अत्यन्त कठिनता से छोड़े जा सकते हैं। ऐसे बन्धुवर्ग में वे मुनिराज कभी स्नेह नहीं करते। जो मुनिराज इस प्रकार स्वयं निर्मल आचरणों का पालन करते हैं और अन्य पदार्थों में कभी राग नहीं करते ऐसे मुनिराजों के उज्झन नाम की शुद्धि होती है।

चतुर मुनि कुमार्ग को नाश करने के लिए और धर्म की सिद्धि के लिए सदा ऐसे वचन बोलते हैं जो जिन शास्त्रों के विरुद्ध न हो अनेकांत भव के आश्रय से हो एकांत मत से सर्वथा दूर हो यथार्थ हो समस्त जीवों का हित करने वाले हो परिमित हो और सारभूत हो। ऐसे वचनों का कहना उत्तम या वाक्य शुद्धि कहलाती है। जो वचन विनय से रहित है धर्म से रहित हैं विरुद्ध है और जिनके कहने का कोई कारण नहीं है ऐसे वचन दूसरों के द्वारा पूछने पर या बिना पूछे वे मुनिराज कभी नहीं बोलते हैं। यद्यपि वे मुनिराज अपने नेत्रों से अनेक प्रकार के अनर्थ देखते हैं कानों से बड़े-बड़े अनर्थ सुनते हैं, अपने हृदय में सार-असार समस्त पदार्थों को जानते हैं तथापि वे साधु इस लोग में गूंगे के समान सदा बने रहते हैं वे कभी किसी की निन्दा नहीं करते और न किसी की स्तुति करने वाली बात कहते

हैं मौन धारण करने वाले वे मुनिराज स्त्री कथा, अर्थ कथा, भोजन तथा, राजकथा, चोर कथा या मिथ्या कथायें कभी नहीं कहते हैं इसी प्रकार खेद कर्वट, देश पर्वत, नगर ग्लानि आदि की कथाएँ भी कभी नहीं कहते हैं। तथा वे मुनिराज नट सुभट मल्ल इन्द्र जालिया जुआ खेलने वाले कुशील सेवन करने वाले दुष्ट म्लेच्छ पापी शत्रु चुगलखोर, मिथ्यादृष्टि कुलिंगी रागी द्वेषी मोही और दुखी जीवों की व्यर्थ की विकथाएँ कभी नहीं करते हैं। वे चतुर मुनि पाप की खानि ऐसी और भी अनेक प्रकार की विकथाएँ कभी नहीं करते हैं तथा न कभी ऐसी अशुभ विकथाओं को सुनते हैं। जो विकथा कहने वाले लोग अपना और दूसरों को जन्म व्यर्थ ही खोते हैं ऐसे मूर्ख लोगों की संगति से बुद्धिमान मुनिराज एक क्षण भर भी नहीं चाहते हैं। वे मुनिराज शरीर में विकार उत्पन्न करने वाले वचन कभी नहीं कहते साधुओं के द्वारा निंदनीय ऐसी बकवास कभी नहीं करते और हंसी को उत्पन्न करने वाले दुर्वचन कभी नहीं कहते हैं। विकार रहित विचारशील और मोक्ष लक्ष्मी को सिद्ध करने में सदा तत्पर ऐसे वे मुनिराज मोक्ष प्राप्त करने के लिए बुद्धिमानों को सदा धर्मोपदेश ही देते हैं॥ जो धर्म संबंधी श्रेष्ठ कथा भगवान जिनेन्द्र देव से प्रगट हुई है जिसमें तीर्थंकर ऐसे महापुरुषों का कथन है जो संवेग को उत्पन्न करने वाली है सारभूत है तत्वों को स्वरूप को कहने वाली है मोक्ष देने वाली है रागद्वेष रुपी शत्रु को नाश करने वाली है ऐसी श्रेष्ठ कथा ही वे चतुर मुनिराज सज्जनों के लिए कहते हैं। जो मुनिराज समर्थशाली हैं अपने मन को सदा मुनियों की भावना में लगाये रहते है जो अपने आत्म ध्यान में सदा तत्पर रहते हैं और तत्वों के चिंतवन करने का ही जिनके सदा अवलंबन रहता है इस प्रकार के और अनेक गुणों को जो धारण करते हैं तथा गूंगे के समान मौनव्रत धारण कर ही अपनी प्रवृत्ति रखते हैं ऐसे मुनियों के उत्तम वाक्य शुद्धि कही जाती है।

महायोग व्रत और गुप्ति समिति आदि से शोभित रहने वाले और प्रमाद रहित जो मुनि अपनी शक्ति के अनुसार अशुभ कर्म रूप शत्रुओं की संतान को भी जड़मूल से उखाड़ देने वाले तथा मोक्ष के कारण भगवान जिनेन्द्र के कहे हुए और सारभूत ऐसे बारह प्रकार के तपश्चरण को ज्ञानपूर्वक धारण करते हैं, उसको

उत्तम तप शुद्धि कहते हैं, तप रूपी अग्नि से जिनके कर्म सब सूख गए हैं, जिनके शरीर में हड्डी मात्र रह गई है जो कषाय रहित है तथापि जो शक्तिशाली है ऐसे शरीर से आसकर मुनि भी केवल मोक्ष प्राप्त करने के लिए अपने धैर्य के बल से बेला, तेला, पंद्रह दिन का उपवास, एक महीने का उपवास, दो महीने का उपवास इस प्रकार अनेक उपवासों को धारण करते हैं। वे निस्पृह मुनिराज मोक्ष सुख प्राप्त करने के लिए पंद्रह दिन का व एक महीने का अथवा और भी अधिक उपवास कर के पारणा के दिन एक ग्रास या दो ग्रास आहार लेकर ही चले जाते हैं। वे धीर वीर मुनि मासोपवास आदि करके भी पारणा के भिक्षा लेने के लिए आज चौराहे पर आहार मिलेगा तो लूँगा नहीं तो नहीं अथवा पहले घर में आहार मिलेगा तो लूँगा नहीं तो नहीं इस प्रकार पड़गाहन की प्रतिज्ञा कर वृत्ति परिसंख्यान तप धारण करते हैं। अथवा वे मुनिराज पांचों इन्द्रियों के सुख नष्ट करने के लिए पारणा के दिन छह रसों का त्याग कर अथवा पांचों रसों का त्याग कर आहार लेते हैं अथवा गर्म जल से धोये गये अन्न को ही वे ग्रहण करते हैं। वे निर्भय मुनिराज स्त्रियों के संसर्ग से अत्यन्त दूर तथा हड्डी मांस या क्रूर जीवों से भरे हुए श्मशान में या भयानक वन में अर्थात् एकांत स्थान में ही शयन या आसन ग्रहण करते हैं। वे मुनिराज जिसकी ठण्ड से वृक्ष भी जल जाते हैं ऐसी ठण्डी के दिनों में रात के समय आठों दिशा रूपी वस्त्रों को धारण कर तथा ध्यान रूपी गर्मी से तपते हुए चौराहे पर खड़े होकर शीत बाधा को जीतते हैं। गर्मी के क्लेश को सहन करने में अत्यन्त धीर-वीर वे मुनिराज गर्मी के दिनों में सूर्य की किरणों से तप्तायमान ऐसे ऊंचे पर्वतों की शिला पर सूर्य के सामने खड़े होते हैं। वे मुनिराज वर्षा के दिनों में जहाँ पर बहुत देर तक पानी की बूंदे झरती रहती है और जिसकी जड़ में अनेक सर्पादिक जीव लिपटे रहते हैं ऐसे वृक्षों के नीचे खड़े रहते हैं तथा वहां पर अपनी शक्ति के अनुसार उपद्रवों को सहन करते रहते हैं। इस प्रकार तीनों ऋतुओं में योग धारण करने वाले मुनिराज ऋतुओं से उत्पन्न हुए अनेक उपद्रवों को सहन करते हैं क्षुधा तृष्णा शीत उष्ण की बाधा सहन करते हैं सांप बिच्छुओं के काटने का परिषह सहन करते हैं देव मनुष्य तिर्यंच और अचेतनों से

उत्पन्न हुए घोर दुर्गम उपसर्गों को सहन करते हैं। वे मुनिराज अपनी पूर्ण शक्ति से उपसर्ग और परीषहों को सहन करते हैं। व्यवहार निश्चय दोनों प्रकार के रत्नत्रय को धारण करने में लीन रहने वाले बाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकार के परिग्रहों से सर्वथा दूर तथा जितेंद्रिय और प्रमाद रहित वे मुनिराज ऊपर लिखे अनुसार बाह्य घोर तपश्चरणों को धारण करते हुए भी प्रायश्चित्त आदि छहों प्रकार के समस्त अंतरंग तपश्चरणों को अनुक्रम से सर्वोत्कृष्ट रूप से धारण करते हैं। वे मुनिराज यमराज के समान मिथ्यादृष्टि और दुष्ट मनुष्यों के दुर्वचनों से उनकी ताड़ना से तर्जना से या उनकी मार से कभी भी क्षुब्ध नहीं होते हैं। जिस प्रकार किसी जाल से हिरण को बांध लेते हैं उसी प्रकार वे मुनिराज समस्त अनर्थों की खानि ऐसे मनुष्यों की पांचो इंद्रियों से उत्पन्न होने वाली विषयों की आकांक्षा को अपने वैराग्य रूपी जाल से बहुत शीघ्र बांध लेते हैं। जो मुनिराज इनके सिवाय और भी महाघोर और उग्र तपश्चरणों को धारण करते हैं तथा समस्त इंद्रियों को जीतते हैं उन्हीं मुनि की पाप रहित निर्दोष तपः शुद्धि होती है।

जो चतुर मुनि अपने मन के समस्त संकल्प विकल्पों को दूर कर तथा आर्तध्यान और रौद्र ध्यान का त्याग कर पर्वतों की गुफा आदि में बैठकर एकाग्रचित्त से धर्म ध्यान या शुक्ल ध्यान को धारण करते हैं तथा इन दोनों ध्यानों को मोक्ष के ही लिए धारण करते हैं उनके कर्म रूपी वन को जलाने के लिए ही ज्वाला के समान ध्यान शुद्धि कही जाती है। यह अपना मन दुर्धर हाथी विषय रूपी वन में घूमता रहता है। इसको ध्यान रूपी अंकुश से पकड़कर बुद्धिमान लोग ही अपने वश में कर लेते हैं। पंचेन्द्रिय रूपी जल से उत्पन्न हुई और रतिरूप समुद्र में क्रीड़ा करती हुई चंचल मछलियों को ध्यानी पुरुष जाल में शीघ्र बाँध लेते हैं। मनरूपी उत्कट राजा के द्वारा पाली हुई और समस्त जीवों को दुख देने वाली ऐसी कषाय रूपी चोरों की सेना को योगी पुरुष ही ध्यान रूपी तलवार से मारते हैं। चतुर पुरुष इस ध्यान के ही द्वारा समस्त योगों को उत्कृष्ट मूलगुण तथा उत्तर गुणों को उपशम परिणामों को और इंद्रियों के दमन को कर्म रूप से धारण कर लेते हैं। वे मुनिराज श्रेष्ठ ध्यान रूपी वज्र की चोट से मोहादिक वृक्षों के साथ-साथ अशुभ

कर्म रूपी पर्वतों के सैंकड़ों टुकड़े कर डालते हैं। वे मुनिराज चाहे चल रहे हो, चाहे आराम से बैठे हो या सुख-दुख की बहुत सी अवस्था को प्राप्त हो रहे हो तथापि वे ध्यान को कभी नहीं छोड़ते हैं। शुक्ल लेश्या को धारण करने वाले और अपने मन में धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान का चिंतवन करने वाले वे मुनिराज स्वप्न में भी कभी आर्तध्यान और रौद्रध्यान के वश में नहीं होते हैं। मेरु पर्वत के समान निश्चल रहने वाले वे मुनिराज परिषहों की महासेना तथा उपसर्गों के समूह आ जाने पर भी अपने ध्यान से रंचमात्र भी कभी चलायमान नहीं होते हैं। वे राग-द्वेष रुपी छोटे-बड़े ही दुष्ट हैं ये मनुष्यों को जबरदस्ती कुमार्ग में ले जाते है ऐसे इन घोड़ों को योगी पुरुष ही अपने आत्म ध्यान रुपी लगाम से श्रेष्ठ ध्यान रुपी रथ में जोत देते हैं। वे मुनिराज परमात्मा से उत्पन्न हुए ध्यान रुपी आनंदामृत को सदा पीते रहते हैं। इसलिए वे क्षुधा तृषा आदि परिषहों को मुख्य वृत्ति से कभी नहीं जानते। देखो यह श्रेष्ठ ध्यान एक उत्कृष्ट नगर है यह नगर जिन शासन की भूमि पर बसा हुआ है। चारित्र रुपी परकोटे से घिरा हुआ है विवेक रुपी बड़े दरवाजों से सुशोभित है भगवान जिनेन्द्र देव की आज्ञारुपी खाई से वेष्टित है इसके गुप्ति रुपी वज्रमय किवाड़ है श्रेष्ठ तप का आचरण रुपी योद्धाओं से यह भर रहा है उत्तम क्षमा आदि मंत्रियों के समूह से यह सुशोभित है। सम्यग्ज्ञान रुपी कोतवाल इसकी रक्षा करते हैं इसकी सीमा के अन्त में संयम रुपी बगीचे लग रहे हैं कषाय और काम रुपी शत्रुओं के समूह तथा पंचेन्द्रिय रुपी चोर इसमें प्रवेश नहीं कर सकते न इस नगर का भंग कभी हो सकता है यह ध्यान रुपी नगर साधु लोगों से भरा हुआ है और परम मनोहर है।

इस नगर के स्वामी वे मुनि ही होते हैं जो महाशक्ति रुपी उत्तम कवचों को सदा पहने रहते हैं जो समता रुपी ऊंचे हाथी पर चढ़े रहते हैं जिनके हाथ में धैर्य रुपी धनुष सदा सुशोभित रहता है तथा जो रत्नत्रय रुपी बाणों को धारण करते रहते हैं। ऐसे उत्तम सुभट रुपी मुनिराज इस श्रेष्ठ ध्यान रुपी नगर के राजा होते हैं। वे ध्यान रुपी नगर के स्वामी मुनिराज निःशंकित रुपी डोरी को खींचकर रत्नत्रय रुपी बाणों की वर्षा करते हैं और मोक्ष रुपी राज्य को प्राप्त करने के लिए

समस्त सेना के साथ मोह रुपी शत्रु को मार डालते हैं। तदनन्तर मोहरूपी महा शत्रु के मर जाने पर उन मुनियों के कर्म रुपी सब शत्रु नष्ट हो जाते हैं और देवों के द्वारा पूज्य वे मुनिराज सदा काल रहते मोक्ष रुपी साम्राज्य को प्राप्त कर लेते हैं। वे मुनिराज तपश्चरण करके अपने आत्मा को श्रम या परिश्रम पहुंचाते हैं। इसलिए वे श्रमण कहलाते हैं। वे मुनिराज अपने कर्मों को अर्पण करते हैं भगा देते हैं या नष्ट कर देते हैं इसलिए महर्षि कहे जाते हैं। वे मुनिराज अपनी आत्मा का अथवा अन्य पदार्थों का मनन करते हैं इसलिए मुनि कहलाते हैं अथवा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि पांचो ज्ञानों से वे सुशोभित रहते हैं इसलिए भी वे मुनि कहलाते हैं। वे मुनिराज सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय को सिद्ध करते हैं इसलिए साधु कहे जाते हैं। उनके रहने का कोई नियम स्थान नहीं रहता इसलिए वे अनगार कहलाते हैं। उनके रागद्वेष आदि समस्त दोष नष्ट हो जाते हैं इसलिए वे वीतराग कहलाते हैं और तीनों लोकों के इन्द्र उनकी पूजा करते हैं। इस प्रकार अनेक सार्थक नामों को धारण करने वाले वीतराग ध्यानी तपस्वियों के परम ध्यान की शुद्धि होती है। रागी मुनियों के ध्यान की सिद्धि कभी नहीं हो सकती।

इति जिनमुख जाता येऽज शुद्धिर्दशैव,
अशुभसफलहंत्रोस्वर्ग मोक्षादि कत्री।
परम चरण यत्नैपालन्त्यात्य शुध्यैः।
रहित विधि मलांगस्तेऽति चिरात्सुम होतः॥ ७१॥

इस प्रकार भगवान जिनेन्द्र देव के मुख से प्रगट हुई ये दश शुद्धियाँ समस्त अशुभों का नाश करने वाली है और स्वर्ग मोक्ष की देने वाली है जो महापुरुष अपने आत्मा को शुद्ध करने के लिए प्रयत्न पूर्वक धारण किए हुए परम चारित्र के द्वारा इन दशों शुद्धियों को पालन करते हैं वे बहुत शीघ्र कर्ममल कलंक से सर्वथा रहित हो जाते हैं।

प्रस्तुत कृति मुनिकुंजर आचार्य आदिसागरजी अंकलीकर की प्रायश्चित्त विधि नामक ग्रंथ है। इसमें प्रायश्चित्त की जिस पद्धति को अपनाया गया है वह पूर्वाचार्यनुक्रम से है।

इस प्रामाणिकता से ग्रन्थ सर्व मान्य और जिन वचन में स्तुत्य है। उन्होंने धर्म की स्थिरता व्रत की स्थिरता करने का बहुत बड़ा कार्य किया है। इसकी आवश्यकता की पूर्ति कर सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के मार्ग को प्रशस्त किया है। हालांकि इसमें श्रावकोचित प्रायश्चित्त का ही कथन पाया जाता है। फिर ज्ञानी जन एकदेश गृहस्थों को जो प्रायश्चित्त होता है उससे दूना महाव्रतियों को होता है। तथा शास्त्र के ज्ञानियों को और भी विशेष ज्ञान होता है। यह प्रायश्चित्त न तो स्वयं लेना चाहिए और न हर एक से लेना चाहिए और न शास्त्र में लिखा लेना चाहिए गुरु से ही लेना चाहिए। जिनको [illegible] शास्त्र का ज्ञान है अभ्यास है अनुभव है वही प्रायश्चित्त कार्यकारी अर्थात् दोषों का नाशक होता है। अन्य जो देते हैं और अन्य से जो प्रायश्चित्त लिया जाता है वह प्रायश्चित्त दोषों को तो नष्ट करता ही नहीं है बल्कि दोषों की वृद्धि करता है इतना ही नहीं सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप की आराधना का भी नाशक होता है। इसलिए योग्य गुरु से ही प्रायश्चित्त लेकर आत्म विशुद्धि करनी चाहिए।

संभीक्ष्दय व्रत मदियमात्तं पाल्यं प्रयत्नतः।
छिन्नं दर्पात्प्रमादाद्वा प्रत्यवस्थाप्य भेजस ॥ ७८ ॥

द्रव्य क्षेत्रादि को देखकर व्रत लेना चाहिए प्रयत्न पूर्वक उसको पालना चाहिए। फिर भी किसी मद के आवेश से या प्रमाद से व्रत छिन्न हो जाये तो उसी समय प्रायश्चित्त लेकर पुनः धारण करना चाहिए। - *सा. २/७८*

मूलोत्तर गुणाः संति देशतो वेश्म वर्तिनां।
तथा नगारिणां न स्युः सर्वतः स्युः परेऽप्यते ॥

पंचाध्यायी कार ने उत्तरार्द्ध श्लोक ७२२ में साधु को पूर्ण और श्रावक को एकदेश होते हैं। जैसे गृहस्थों के मूलगुण और उत्तरगुण होते हैं वे वैसे मुनियों के एकदेश रूप से नहीं होते हैं किन्तु वे मूलगुण तथा उत्तरगुण सर्वदेश रुप से ही होते हैं।

मूलोत्तरगुणेलीषाद्विशेष व्यवहारतः।
साधूपासक सेशुद्धिं वक्ष्ये संक्षिप्य तद्यथा ॥ २ ॥

मूलगुण और उत्तर गुण के विषय में विशेष प्रायश्चित्त शास्त्र के अनुसार यति और श्रावकों की शुद्धि संक्षेप से कही जाती है। वह इस प्रकार है। मूलगुण और उत्तरगुण दो प्रकार के हैं यतियों के और श्रावकों के। यतियों के मूलगुण अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इत्यादि अट्ठाईस हैं। श्रावकों के मूलगुण मद्यत्याग, मांस त्याग, मधुत्याग पांच उदम्बर फलों का त्याग ऐसे अनेक प्रत्येक प्रकार के आठ है। तथा यतियों के उत्तरगुण आतापना तोरण स्थान मौन आदि अनेक हैं और श्रावकों के उत्तरगुण सामायिक प्रोषधोपवास आदि हैं। इनमें लगे हुए दोषों की शुद्धि संक्षेप से कही जाती है।

प्रायश्चित्तेऽसति स्यान्न चारित्रात्दिना पुनः।
न तीर्थन विना तीर्थान्त वृत्ति स्तदवृथावृतं॥

प्रायश्चित्त के अभाव में चारित्र नहीं है। चारित्र के अभाव में धर्म नहीं है और धर्म के अभाव में मोक्ष की प्राप्ति नहीं है इसलिए व्रत धारण करना व्यर्थ है।

प्रायश्चित्त ग्रहण करने से ही व्रतों की सफलता है अन्यथा नहीं।

यावेतः स्युः परीणमास्तावंतिच्छेद मान्यपि।
प्रायश्चित्तं समर्थः को दातुं कर्तुम होमते॥

जितने परिणाम है उतने ही प्रायश्चित्त है इस प्रकार उतना प्रायश्चित्त न तो कोई देने में समर्थ है और न कोई करने को समर्थ है॥ १६३॥

सह समणणं भणियं समणीणं तहय होई मलहरणं।
वज्जिय तियाल जोगां हिणपडियं छेड मालं च॥

जो पहले मुनिश्वरों के प्रायश्चित्त का वर्णन किया है, उसी प्रकार आर्यिकाओं का प्रायश्चित्त समझना चाहिए। उसमें विशेष केवल इतना है कि आर्यिकाओं को त्रिकाल योग का धारण नहीं करना चाहिए। बाकी सब प्रायश्चित्त मुनियों के समान है॥ *(प्रा. च.)*

इस संसार में मनुष्यों के द्रव्य और भाव दोनों ही सूतक से मलिन हो जाते हैं

तथा द्रव्य व भाव के मलिन होने से धर्म और चारित्र स्वयं मलिन हो जाता है। अतएव सूतक पातक के मानने से द्रव्य शुद्धि होती है। द्रव्य शुद्धि होने से भाव शुद्धि होती है और भाव शुद्धि होने से चारित्र निर्मल होता है। इस संसार में मनुष्यों का सूतक रागद्वेष का मूल कारण है तथा रागद्वेष से आत्मा की हिंसा करने वाले हर्ष और शोक प्रगट होते हैं। यह निश्चित सिद्धांत है कि मनुष्य जन्म में भी धर्म की स्थिति शरीर में आश्रित है। इसलिए मनुष्यों के शरीर की शुद्धि होने से सम्यग्दर्शन और व्रतों की शुद्धि करने वाली धर्म की शुद्धि होती है। इसलिए धर्म की शुद्धि के लिए समस्त शुद्धियों को उत्पन्न करने वाला शुभ इस सूतक पातक का पालन अवश्य करना चाहिए।

प्रायश्चित्तं चिकित्सां च ज्योतिषं धर्म निर्णयं।
बिना शास्त्रेण यो ब्रूयात् तमाहुर्ब्रह्म घातकं ॥

प्रायश्चित्त कर्म, चिकित्सा शास्त्र, (रोग दूर करने के लिए दवाई देना) लग्न मुहूर्त गणित शास्त्र आदि ज्योतिष शास्त्र और धर्म शास्त्र का निर्णय सब बातों को इनके अलग-अलग शास्त्र देखे बिना जो अपने मन से ही बुद्धिमान बनकर अपने मन के अनुसार कहता है अथवा तू ऐसा कर ले इस प्रकार दूसरों से कहता है उसको लौकिक शास्त्र में हत्यारा या पातकी या ब्रह्मघाति बतलाया है।

तथाच आचार्य देवज्ञ नृपाश्च वैद्याः ये शास्त्र हीना स्वकांतिकर्म देवैः वृसियां मम इतरूपाः सृष्टाः प्रजा संहरण्य नूनं ॥

लंघन पथ्य निर्णय शास्त्र में लिखते हैं कि जो आचार्य (प्रायश्चित्त आदि धर्म शास्त्र का निर्णय देने वाला) ज्योतिषी, राजा और वैद्य ये चारों ही पुरुष अपने-अपने कार्यों के बिना शास्त्र देखे केवल अपने मन से या केवल बुद्धि के बल से करते हैं उनको मानो ब्रह्मा ने यम के दूतों के समान केवल प्रजा को मारने के लिए ही इस पृथ्वी पर बनाया है।

इत्थं प्रायश्चित्तमनर्थेप्रतिषिद्धे, जाते दोषे शीघ्रतरंस प्रविधेयं।
नो चेदेव राष्ट्र मशेषं परिहीनः, नगरं राष्ट्रपति प्रविहीनं ॥ २३ ॥

जिन संहिता में लिखा है कि जो कोई पुरुष अनेक प्रकार के अनर्थ उत्पन्न करने वाले जिन पूजा संबंधी दोषों को शांत करने के लिए योग्य प्रायश्चित्त नहीं करता तो वह पुरुष अपने नगर से देश से राष्ट्र से सबसे भ्रष्ट हो जाता है। इसलिए पापों की शांति के लिए प्रायश्चित् अवश्य करना चाहिए।

यदि किसी मुनि के अज्ञान या प्रमाद से पांच महाव्रतादिक अट्ठाईस मूलगुणों में या अन्य किसी क्रिया चरण में किसी प्रकार का अतिचार या अनाचार लग जाये तो वे मुनिराज अपने गुरु आचार्य के निकट आकर अपने किये हुए दोषों को प्रगट करते हैं। उसके बाद आचार्य जो प्रायश्चित्त दे उसे वे अपने दोष दूर करने के लिए बड़े हर्ष के साथ स्वीकार करते हैं। गुरु के दिये हुए प्रायश्चित्त में किसी प्रकार का विवाद नहीं करते किंतु उसको यथोचित् रीति से पालकर शुद्ध होते हैं। इसी प्रकार उत्तरगुणों के संबंध में जानना चाहिए। तथा यदि कोई जैनी गृहस्थ श्रावक या श्राविका के मलगुण अथवा उत्तरगुणों में किसी कारण से अनाचार या हीनाचरण करने में आ जाय तो उस दोष को दूर करने के लिए प्रायश्चित्त करना चाहिए।

रिसि सावय मूलुत्तर गुणादिचारे प्रमाद दव्वेहिं ।
जो दे प्रायच्छित्तं पि सुणह कमसो जहाजोग्गं ॥ १ ॥

ऋषि श्रावक मूलोत्तर गुणतिचारे प्रमाददव्वेहिं ।
जाते प्रायच्छित्तं निश्रृणुत क्रमशो यथायोग्यं ॥ २ ॥(छे. पि.)

प्रमाद और हर्ष से ऋषि और श्रावक के मूलगुण और उत्तर गुण में अतिचार होने पर क्रम से यथायोग्य प्रायश्चित्त जो है वह सुनो -

जं समणाणं वुत्तं पायच्छित्तं तह जयाचरणं ।
ते सिंचेव पउत्तं तं समणीणंपि णामव्वं ॥ २८९ ॥

णवरि पर्यायछेदो मूलट्ठाणं तहेव परिहारो ।
दिणपड़िया वि य तीनं तियालजोगो यणेवत्थि ॥ २९० ॥

यत् श्रमणानामुक्तं प्रायश्चित्तं तथा यत् आचारणं ।
तेषां चैव प्रोक्तं तत् श्रमणीयामवि ज्ञातव्यं ॥ २८८ ॥

नवरि पर्यायच्छेदो मूलस्थानं तथैव परिहारः ।
दिन प्रतियापि च तासां त्रिकालयोगश्चनैवास्ति ॥ २९० ॥ छे. पि. ।

जो श्रमणों को प्रायश्चित्त कहा गया है उसी प्रकार वही आचरण श्रमणियों को भी जानना चाहिए। उसमें सिर्फ विशेष यह है कि पर्याय छेद मूलस्थान उसी प्रकार परिहार प्रतिमायोग त्रिकालयोग उनको नहीं है।

दोण्हं तिण्हं छण्हं मुवरि मुक्कस्समज्झि मिदिराणं ।
देस जदीणं छेदो विरदाणं अद्धद्ध परिमाणं ॥ ३०३ ॥

विरदाणमुत्तमलहरणस्स दुभागो तहजओ भागो ।
भागो चउत्थओ वि यतेस्सिं छेदो त्तिबेंतिपरे ॥ ३०४ ॥

संजद पायच्छित्तस्सद्धादिक मेण देस विरदाणं ।
प्रायच्छित्तं होदित्ति जदि विसामण्णदो वृत्तं ॥ ३०५ ॥

द्वयोः त्रयाणं सण्णं उपरि उत्कृष्टयोः मध्यमानमितरेषां ।
देशयतीना छेदः विरतानां अर्धार्धपरिमाणः ॥ ३०३ ॥

विरताना मुक्तमलहरणंस्य द्वि भागः तृतीयो भागः ।
भागश्च तुर्योऽपि च तेषां छेदः इति ब्रुवंति परे ॥ ३०४ ॥

संयत प्रायश्चित्तस्य अर्धादिक्रमेणदेश विरतानां ।
प्रायश्चित्त भवतिसि यद्यपि सामान्यतः उक्तं ॥ ३०५ ॥

– छे. पि. ।

दो भाग उत्कृष्ट, तीन भाग मध्यम और छटवां भाग जघन्य देशयतियों को छेद होता है। व्रतियों को आधा-आधा के प्रमाण प्रायश्चित्त कहा गया है। परन्तु कोई व्रतियों को प्रायश्चित्त दो भाग तीसरा भाग और चतुर्थ भाग उनको छेद प्रायश्चित्त होता है। संयत के प्रायश्चित्त का आधा-आधा के क्रम से देश व्रतियों

को प्रायश्चित होता है। हालांकि यह प्रायश्चित सामान्य से कहा गया है।

छत्तिय बंजण वइसा सुद्दा विय सूलगम्मि जायम्मि।
पणं दस वारस पण्णरसेहिंदेवसेहिं सुज्झंति॥ ३५२॥

क्षत्रिय ब्राह्मण वैश्याः शुद्रा अपि च सूतके जाते।
पंचदशः द्वादशं पंचदशभिः दिवसैः शुद्धमंति॥ ३५२॥

छे. पि.।

क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शुद्र को सूतक होने पर क्रमशः ५ दिन, १० दिन १२ दिन, और १५ दिन में शुद्ध होते हैं।

ज सवणाणं भणियं पच्छित्तंपि सावयाणंपि।
दोण्हं तिण्हं छण्हं अद्धद्ध कमेण दायत्वं॥ ७८॥

यत् श्रमणानां भणित्तं प्रायश्चित्तं अपिश्रावकानापि।
द्वैयोः त्रयाणांसण्णां अर्धार्ध क्रमेणं दातव्यं॥ ७८॥

अस्या अर्थ - ऋषिणां यत्प्रायिश्चत्तं तच्छ्रावकाणामपि भणति। परंकिंतु उत्तम श्रावकाणां ऋषेः प्रायश्चित्तस्य अर्ध। तस्यार्द्ध ब्रह्मचारिणं तदर्ध मध्यम श्रावकस्य प्रायश्चित्तं। तद धजिघन्य श्रावकस्य प्रायश्चित्तं॥

केईपुण आइरिया विसेसशुद्धिं कहंति तिण्हंपि।
वियतिय चउत्थभायं गहिऊण य होय दायव्वं॥ ७९॥

केचित पुन आचार्याः विशेषशुद्धि कथयंतित्रयाणामपि।
द्विकत्रिक चतुर्थ भागं गृहीत्वाचयवति दातव्यं॥ ७९॥

अस्या अर्थः ऋषीणां प्रायश्चित्तस्य उत्तम श्रावकस्य द्विभागं प्रायश्चित्तं! ब्रह्मचारिणां ऋषाणां प्रायश्चित्तस्य त्रिभागे दातव्यः ऋषिणां प्रायश्चित्तस्य चतुर्थभागः श्रावकस्य दातव्यः॥ छे. शा.।

ऋषियों का जो प्रायश्चितत है वह श्रावकों को भी होता है परन्तु उत्तम श्रावकों का ऋषि के प्रायश्चित्त का आधा होता है। और उससे आधा मध्यम

श्रावकों को प्रायश्चित्त होता है और उसका आधा जघन्य श्रावकों को प्रायश्चित्त होता है। विशेष प्रायश्चित्त इस प्रकार है ऋषियों के प्रायश्चित्त का उत्तम श्रावक के दो भाग प्रायश्चित्त होता है। ब्रह्मचारियों को ऋषि के प्रायश्चित्त का तीन भाग देना चाहिए। ऋषी के प्रायश्चित्त का चतुर्थ भाग श्रावक को देना चाहिए।

महापुरुषों का महान कथन होता है। ज्ञानी पुरुषों की बात को ज्ञानी ही जान सकता है। मुनि कुंजर आचार्य आदिसागरजी अंकलीकर की यह कृति कितनी उपयोग है इस बात को ज्ञानी ही जान सकता है। पूर्वानुपूर्वी, पाश्च्यात्यानु पूर्वी रूप से ज्ञान होता है। ऋषि के प्रायश्चित्त से आगे बढ़ायेंगे तो अर्घार्ध और श्रावक के प्रायश्चित्त से आगे बढ़ायेंगे तो दूना-दूना आदि के क्रम से प्रायश्चित्त का निरुपण किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ भी एक सूत्र रूप होने हैं से परोपकारी होते हैं। अतः इस ग्रन्थ को सूत्र रूप कहा तो भी कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

जैन समाज में प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध होने की प्रथा प्रायः दिन पर दिन मंद होती जाती है। लोग अपनी हठ धर्मी के आवेश में न्याय-अन्याय सबको न्याय का रूप देकर करणीय समझने में ही चातुरी समझते हैं। इस ऐसें ग्रन्थ की जिसमें शुद्ध होने की पद्धति का वर्णन है। प्रकाशित होने की बहुत बड़ी आवश्यकता थी। शास्त्र भंडारों में भी इस विषय का कोई हिंदी भाषामय ग्रन्थ अवलोकन करने में प्रायः नहीं आता था। इसलिए धर्मवृद्धि और व्यक्ति दोषमुक्त होकर निर्विकल्पता को प्राप्त हो इसी उद्देश्य से इस ग्रंथ की महत्ता समझ में आ जाती है।

प्रति समय लगने वाले अंतरंग व बाह्य दोषों की निवृत्ति करके अंतर्शोधन करने के लिए किया गया पश्चाताप या दंड के रूप में उपवास आदि का ग्रहण प्रायश्चित्त कहलाता है, जो अनेक प्रकार का होता है। बाह्य दोषों का प्रायश्चित्त मात्र पश्चाताप से हो जाता है। पर अंतरंग दोषों का प्रायश्चित्त गुरु के समक्ष सरल मन से, आलोचना पूर्वक दण्ड को स्वीकार किये बिना नहीं हो सकता है। परन्तु इस प्रकार के प्रायश्चित्त अर्थात् दण्ड शास्त्र में अत्यन्त निपुण व कुशल आचार्य ही शिष्य की शक्ति व योग्यता को देख कर देते हैं अन्य नहीं।

अनगार धर्मामृत में इसकी निरुक्ति पूर्वक ऐसा निर्देश किया है कि **प्रायो-लोकस्तस्य चित्तं मनस्तच्छुद्धिकृत्क्रिया। प्राये तपसि वा चित्तं निश्चयः तन्निरुच्यते ॥ ३७ ॥** प्रायः शब्द का अर्थ लोक और चित्त शब्द का अर्थ मन होता है। जिसके द्वारा साधर्मी और संघ में रहने वाले लोगों का मन अपनी तरफ से शुद्ध हो जाय उस क्रिया या अनुष्ठान को प्रायश्चित्त कहते हैं। अथवा क्रोधादि स्वकीय भावों के अपने विभाव भावों के क्षयादि की भावना में रहना और निजगुणों का चिंतन करना वह निश्चय से प्रायश्चित्त कहते हैं। उसी अनंत धर्म वाले आत्मा का जो उत्कृष्ट ज्ञान अथवा चित्त उसे जो आत्मा नित्य धारण करता है, उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। बहुत कहने से क्या ? अनेक कर्मों के क्षय का हेतु ऐसा जो महर्षियों का उत्तम तपश्चरण वह सब प्रायश्चित्त जानना चाहिए। आत्म स्वरूप जिसका अवलंबन है, ऐसे भावों से जीव सर्व प्रकार के भावों का परिहार कर सकता है, इसलिए ध्यान सर्वस्व है। अथवा व्रत में लगे हुए दोषों को प्राप्त हुए यति जिससे पूर्व में किये पापों से निर्दोष हो जाय वह प्रायश्चित्त तप है। पुराने कर्मों का नाम क्षेपण, निर्जरा, शोधन, धावन, प्रच्छन (निराकरण), उत्क्षेपण, छेदन (द्वैधीकरण) ये सब प्रायश्चित्त के नाम है। **संसर्गे सति विशोधनात्तदुभयम्।** अर्थात् आलोचना और प्रतिक्रमण इन दोनों का संसर्ग होने पर दोष का शोधन होने के लिए तदुभय प्रायश्चित्त है अथवा **सगावदाहं गुरुणमालोचिय गुरु सक्खिया अवहारादो पडिणियत्ति उभयं णामं पायच्छित्तं।** अर्थात् अपने अपराध की गुरु के सामने आलोचना करके गुरु की साक्षी पूर्वक अपराध से निवृत्त होना उभय नाम का प्रायश्चित्त है। पुनर्दीक्षा प्रापणमुपस्थापना। अर्थात् पुनः दीक्षा देना उपस्थापना प्रायश्चित्त है। **मिच्छत्तं गंतूण ट्ठियस्स महव्वयाणि घेत्तूण अत्तागम पयत्थ सद्दहण चेव (सद्दहणं) पायच्छित्तं।** अर्थात् मिथ्यात्व को प्राप्त होकर स्थित हुए जीव महाव्रतों को स्वीकार कर आप्त आगम और पदार्थों का श्रद्धान करने पर श्रद्धान नामका प्रायश्चित्त होता है।

प्रायश्चित्त तप के अतिचार आकंपित अनुमानित वगैरह दोष इस तप के अतिचार हैं। ये अतिचार होने पर इसके विषय में मन में ग्लान करना। अज्ञान से,

प्रमाद से, तीव्र कर्म के उदय से और आलस्य से मैंने यह अशुभ कर्म का बंध करने वाला कर्म किया है, मैंने यह दुष्ट कर्म किया है ऐसा उच्चारण करना प्रतिक्रमण के अतिचार है। आलोचना और प्रतिक्रमण के अतिचारों को उभयातिचार कहते हैं। जिस-जिस पदार्थ के अवलंबन से अशुभ परिणाम होते हैं उनको त्यागना अथवा उनसे अलग होना यह विवेक तप है। अतिचार को कारणीभूत ऐसे द्रव्य क्षेत्र और कालादिक से पृथक करना अर्थात् दोषोत्पादक द्रव्यादिकों का मन से अनादर करना यह विवेक है। शरीर व आहार में मन एवं वचन की प्रवृत्तियों को हटाकर ध्येय वस्तुओं की ओर एकाग्रता से चित्त का निरोध करने को व्युत्सर्ग कहते हैं। काय का उत्सर्ग करके ध्यान पूर्वक एक मुहूर्त, एक दिन, एक पक्ष और एक महीना आदि काल तक स्थित रहना व्युत्सर्ग नामका प्रायश्चित्त है। शरीर से ममता हटाना व्युत्सर्ग तप है परन्तु ममत्व दूर नहीं करना यह व्युत्सर्ग तप का अतिचार है।

पक्षमासादि विभागेन दूरः परिवर्जनं परिहारः। अर्थात् पक्ष, महीना आदि के विभाग से संघ से दूर रखकर त्याग करना परिहार प्रायश्चित्त है। अपरिस्रव अर्थात् आस्रव से रहित, श्रुत के रहस्यों को जानने वाले, वीतराग और रत्नत्रय में मेरू के समान स्थिर ऐसे गुरुओं के सामने अपने दोषों का निवेदन करना व्यवहार आलोचना नामक प्रायश्चित्त है। जो वर्तमान काल में शुभाशुभ कर्म रूप अनेक प्रकार ज्ञानावरणादि विस्तार रूप विशेषों के लिए हुए उदय आया है उस दोष को जो ज्ञानी अनुभव करता है, वह आत्मा निश्चय से आलोचना स्वरूप है। **उत्तरोत्तर धर्मापेक्षया विश्रामाभावानावस्था।** अर्थात् उत्तर-उत्तर धर्मों अनेकांत की कल्पना बढ़ती चली जाने से उसको अनवस्था दोष कहते हैं। असंयत के प्रति की जुगुप्सा ही छेद है। संयम का छेद दो प्रकार का है बहिरंग और अंतरंग। उसमें मात्र काय चेष्टा संबंधी बहिरंग है और उपयोग संबंधी अंतरंग है। अशुद्धोपयोग अंतरंग छेद है और परिणामों का व्यपरोपण बहिरंग छेद है। **अनिगूहित वीर्यस्य मार्गा विरोधि काय क्लेशस्तपः।** अर्थात् शक्ति को न छिपाकर मोक्षमार्ग के अनुकूल शरीर को क्लेश देना यथा शक्ति तप है। **पक्षमासादि विभागेन दूरतः**

परिवर्जन परिहारः अर्थात् पक्ष महीना आदि के विभाग से संघ से दूर रखकर त्याग करना परिहार प्रायश्चित्त है।

जो ऋजुभाव से आलोचना करते हैं ऐसे पुरुष प्रायश्चित्त देने योग्य हैं और जिन के विषय में शंका उत्पन्न हुई है। उनको आचार्य प्रायश्चित्त नहीं देते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि सर्वातिचार निवेदन करने वालों में ही ऋजुता होती है, उसको ही प्रायश्चित्त देना योग्य है। यदि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आश्रय से हुए संपूर्ण दोष क्षपक अनुक्रम से कहेगा तो प्रायश्चित्त दान कुशल आचार्य उसको प्रायश्चित्त देते हैं। सारांश यह है कि प्रायश्चित्त आलोचना करने पर ही होता है। **जैसा कि भगवती आराधना में लिखा है -**

एत्थ दुउज्जुग भावा ववहारि दुववा भवंति ते पुरिसा।
संका परिहरि दव्वा सो से पट्ठाहि जहि विसुद्धा॥ ६२०॥

पडिसेवणादि चोर वदि आजंपदि तहा कम्मं सव्वे।
कुव्वंति तहो सोधिं आगमववहारिणो तस्स॥ ६२१॥

परिणाम चार प्रकार से जाने जाते हैं। १. सहवास से, २. उसके कार्य देखने पर उसके तीव्र या मंद क्रोधादिक का स्वरूप मालूम होता है। ३. जब तुमने अतिचार किये थे तब तुम्हारे परिणाम कैसे थे ? ऐसा उसको पूछने पर भी परिणामों का निर्णय किया जा सकता है। जैसा कि विजयोदय टीका में लिखा है - **कथं परिणामों ज्ञायते इति चेत् सहवासेन तीव्र क्रोधस्तीव्रमान इत्यादिकं सुज्ञातमेव। तत्कार्योपभ्यात्, तयेव वा परिपृच्छय, कीदृग भवतः परिणामो-ऽतिचार समकालं वृत्तः।**

पृथ्वी पानी आदि सचित्त द्रव्य, तृण का संस्तर, फलक वगैरह अचित्त द्रव्य, जीव उत्पन्न हुए हैं ऐसे उपकरण मिश्र द्रव्य, ऐसे तीन प्रकार के द्रव्यों का सेवन करने से दोष लगते हैं। यह द्रव्य प्रतिसेवना है। वर्षाकाल में मुनि आधा योजन से अधिक गमन करना निषिद्ध स्थान में जाना, विरुद्ध राज्य में जाना, जहाँ रास्ता टूट गया ऐसे प्रदेश में जाना, उन्मार्ग से जाना, अंतःपुर में प्रवेश करना,

जहाँ प्रवेश करने की परवानगी नहीं है ऐसे गृह के जनीन में प्रवेश करना यह क्षेत्र प्रतिसेवना है। आवश्यकों के नियत काल को उल्लंघन कर अन्य समय में सामायिकादि करना, वर्षाकाल योग का उल्लंघन करना यह काल प्रतिसेवना है। दर्प, उन्मत्तता, असावधानता, साहस, भय इत्यादि रूप परिणामों में प्रवृत्त होना भाव प्रतिसेवना है।

आचार्यमपृष्ट्वा आतापनादिकरणे पुस्तक पिच्छादि परोपकरण ग्रहणे परपरोक्षे प्रमादतः आचार्यादिवचना करणे संघनाम पृष्ट्वास्वसंघ गमने देश काल नियमेनावश्य कर्तव्य व्रतविशेषस्य धर्मकथादि व्यासंगेन विस्मरणे सति पुनः करणे अन्यत्रापि चैवं विधे आलोचनमेव प्रायश्चितं। अर्थात् आचार्य के बिना पूछे आतापनादि करना, दूसरे साधु की अनुपस्थिति में उसकी पीछी आदि उपकरणों का ग्रहण करना, प्रमाद से आचार्यादि की आज्ञा का उल्लंघन करना, आचार्य से बिना पूछे संघ में प्रवेश करना, धर्मकथादि के प्रसंग से देश काल नियत आवश्यक कर्तव्य व व्रत विशेषों का विस्मरण होने पर उन्हें पुनः करना, तथा अन्य भी इसी प्रकार के दोषों का प्रायश्चित्त आलोचना मात्र है।

षडिन्द्रियवागादि दुष्परिणामे, आचार्यादिषुहस्तपादादि संघट्टने, व्रत समिति गुप्तिषु स्वल्पातिचारे, पैशून्य कलहादि करणे, वैयावृत्य स्वाध्यायादि प्रमादे, गोचरगतस्य लिंगोत्थाने, अन्य संक्लेशकरणा दौ च प्रतिक्रमण प्रायश्चित्तं भवति। दिवसांते रात्र्यंते भोजनगमनादौ च प्रतिक्रमणं प्रायश्चित्तं। अर्थात् छहों इन्द्रिय तथा वचनादिक का दुष्प्रयोग, आचार्यादिक के अपना हाथ पाँव आदिक टकरा जाना, व्रत समिति गुप्ति में छोटे-छोटे दोष लग जाना, पैशून्य तथा कलह आदि करना, वैयावृत्य तथा स्वाध्यायादि में प्रमाद करना, गोचरी को जाते हुए लिंगोत्थान हो जाना, अन्य के साथ संक्लेश करने वाली क्रियाओं के होने पर प्रतिक्रमण करना चाहिए। यह प्रायश्चित्त सांयकाल और प्रातःकाल तथा भोजनादि के जाने के समय होता है।

शक्त्यनिगूहनेन प्रयत्नेन परिहरतः कुतश्चित्कारणादप्रासुकग्रहण-

ग्राहणयोः प्रासुकस्यापि प्रत्याख्यातस्य विस्मरणात् प्रतिग्रहे च स्मृत्वा पुनस्तदुत्सर्जनं प्रायश्चित्तं। अर्थात् शक्ति को न छिपाकर प्रयत्न से परिहार करते हुए भी किसी कारण वश अप्रासुक के स्वयं ग्रहण करने या ग्रहण कराने में, छोड़े हुए प्रासुक का विस्मरण हो जाय और ग्रहण करने पर उसका स्मरण आ जाय तो उसका पुनः उत्सर्ग करना ही विवेक प्रायश्चित्त है।

मौनादिना लोचकरणे, उदरकृमिनिर्गमे, हिमयशकादि महावातादि संघर्षातिचारे, स्निग्ध भू हरिततृणर्कोपरिगमने, जानुमात्रजलप्रवेश करणे, अन्य निमित्त वस्तु स्वोपयोगे करणे, नावादि नदी तरणे, पुस्तक प्रतिमापातेन, पंचस्थावर विघाते, अदृष्टदेशतनुमल विसर्गादौ, पक्षाद्-प्रतिक्रमण क्रियायां, अंतर्व्याख्यान प्रवृत्यंतादिषु, कायोत्सर्ग एव प्रायश्चित्तं। उच्चार प्रस्रवणादौ च कायोत्सर्गः प्रसिद्ध एव। अर्थात् मौन आदि धारण किये बिना ही लोंच करने पर, उदर में से कृमि निकालने पर, हिम, दंशमशक यद्वा महावातादि के संघर्ष से अतिचार लगने पर, स्निग्ध भूमि, हरित तृण, यद्वा कर्दम आदि के ऊपर चलने पर, घोटुओं तक जल में प्रवेश कर आने पर, अन्य निमित्तक वस्तु को उपयोग में ले आने पर, नाव के द्वारा नदी पार होने पर, पुस्तक या प्रतिमा आदि के गिरा देने पर, पंच स्थावरों का विघात करने पर, बिना देखे स्थान पर शारीरिक मल छोड़ने पर, पक्ष से लेकर प्रतिक्रमण पर्यंत व्याख्यान प्रवृत्यन्तादिकों में केवल कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त होता है। और थूकने और पेशाब आदि के करने पर कायोत्सर्ग करना प्रसिद्ध ही है।

एवं तवो पायच्छित्तं कस्स होदि। तिव्विंदियस्स जोव्वणभरत्थस्स बलवंतस्स सत्त सहायस्स कथावराहस्स होदि। अर्थात् जिसकी इंद्रिया तीव्र हैं, जो जवान हैं, बलवान हैं और सशक्त हैं, ऐसे अपराधी साधु को तप प्रायश्चित्त दिया जाता है। छेदोणाम पायच्छित्तं। एदं कस्स होदि। उववासादि खमस्स ओघ बलस्स ओघ सूरस्स गव्विदस्स कथावरा हस्स साहुस्स होदि। अर्थात् जिसने बार-बार अपराध किया है। जो उपवास आदि करने में समर्थ है, सब प्रकार से बलवान हैं, सब प्रकार से शूर और अभिमानी है

ऐसे साधु को छेद प्रायश्चित्त दिया जाता है। मूलं पाव सामण्णिकं एवं कदस्स होदि। अवरिमिय अवराहस्स पासत्थोसण्ण-कुसील सच्छंदादि उव्वड्ढिट्ठस्स होदि। अर्थात् अपरिमित अपराध करने वाला जो साधु पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील और स्वच्छन्द आदि होकर कुमार्ग में स्थित हैं, उसे दिया जाता है।

प्रमादादन्यमुनि संबन्धिनमृषिं शत्रं गृहस्थं वा पर पाखण्डि प्रतिबद्ध चेतना चेतन द्रव्यं वा परस्त्रियं वा स्तेनयतां मुनीन् प्रहरतो वाऽन्यदप्येवमादि विरुद्धाचरित माचरतो नवदश पूर्वधरस्यापि त्रिक संहननस्य जितपरीषहस्य दृढधर्मिणो धीरस्य भव भीतस्य निजगुणनुपस्थानं प्रायश्चित्तं भवति। दर्यदिनत्तरोक्तान्दोषानाचरतः परगणोपस्थानं प्रायश्चित्तं भवति। अर्थात् प्रमाद से अन्य मुनि संबंधि ऋषि, विद्यार्थी, गृहस्थ वा दूसरे पाखण्डी के द्वारा रोके जाने पर भी चेतनात्मक वा अचेतनात्मक द्रव्य, अथवा परस्त्री आदि को चुराने वाले, मुनियों को मारने वाले, अथवा और भी ऐसे ही विरुद्ध आचरण करने वाले, परन्तु नौ वा दस पूर्वों के जानकार, पहले तीन संहनन को धारण करने वाले परीषहों को जीतने वाले, धर्म में दृढ़ रहने वाले, धीर-वीर और संसार से डरने वाले, मुनियों के निजगणानुपस्थान नामका प्रायश्चित्त होता है। जो अभिमान से उपरोक्त दोषों को करते हैं, उनके परगणानुपस्थापना प्रायश्चित्त होता है।

तीर्थंकर गणधर गणी प्रवचन संघासादन कारकस्य नरेन्द्रविरुद्धाचरितस्य राजानमभिमतामात्यादीनां दत्त दीक्षस्य नृपकुल वनिता सेवितस्यैव माधन्यैदोषैश्च धर्मदूषकस्य पारंचिकं प्रायश्चित्तं भवति। अर्थात् जो मुनि तीर्थंकर, गणधर, आचार्य और शास्त्र व संघ आदि की झूठी निंदा करने वाले हैं, विरुद्ध आचरण करते हैं, जिन्होने किसी राजा को अभिमत ऐसे मंत्री आदि को दीक्षा दी है जिन्होने राज कुल की स्त्रियों का सेवन किया है, अथवा ऐसे अन्य दोषों के द्वारा धर्म में दोष लगाया है, ऐसे मुनियों के पारंचिक प्रायश्चित्त होता है।

गत्वा स्थितस्य मिथ्यात्वं यद्दीक्षा ग्रहणं पुनः। तच्छ्रद्धानमितिख्यातमुपस्थापन मित्यपि॥ ५७॥ जो साधु सम्यग्दर्शन को छोड़कर मिथ्यात्व में प्रवेश कर गया है। उसको पुनः दीक्षा रूप यह प्रायश्चित्त दिया जाता है। इसका

दूसरा नाम उपस्थापन है। कोई-कोई महाव्रतों का मूलोच्छेद होने पर पुनः दीक्षा देने को उपस्थापन कहते हैं।

साधु और गृहस्थ दोनों से ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, बल, वीर्य के कारण से अपराध होना संभव है। परन्तु उसका शोधन करना उन्नति का कारण है। जिसका साधु को अपराध शोधन के लिए शास्त्र है वैसे ही गृहस्थ के अपराधों के शोधन के लिए भी पूर्वाचार्यों के द्वारा लिखित शास्त्र है। एक समय था जब शास्त्रों को विरोधियों ने जलाया और वे छह महीने तक जलते रहे। फिर हमारे गुरुओं ने **दुखहारी सुखकारि कहै सीख गुरु करुणा धारि**। इसके अनुसार पुनः मोक्षमार्ग को प्रशस्त करने के लिए लिपिबद्ध किये। यथार्थता तो यही है कि प्रायश्चित्त करने पर भव्य प्राणी साधु या गृहस्थ निर्विकल्प हो जाता है और अपने पूर्ववत् आत्मा के लक्ष्य तक पहुंच जाता है।

ऐसे ही परम पूज्य मुनिकुंजर आचार्य आदिसागरजी महाराज अंकलीकर बीसवीं सदी के सर्वप्रथम हुए हैं जिन्होंने **आद हिंदक दव्वं परहिदं च कादव्वं** को चरितार्थ किया है। उन्होंने जिनधर्म रहस्य, उद्बोधन, दिव्यदेशना, अंतिम दिव्य देशना, शिवपथ, वचनामृत इत्यादि साहित्य आत्महितार्थ समाज को दिये हैं। तथा इसी साहित्य में एक विशिष्ट ग्रंथ प्रायश्चित्त विधि नामक ग्रंथ है जो अपने में एक अनूठा है। गृहस्थों के अपराधों की शुद्धि के लिए एक अपूर्व ग्रंथ है। वर्तमान में ऐसे ग्रन्थ की बहुत आवश्यकता थी। जो अभी उपलब्ध हुआ है। यह लिखा तो सन् १९१५ में था जैसा जीव का पुण्य-पाप होता है वैसा अजीव का भी पुण्य-पाप होता है। पुण्यात्मा प्राणी का उपयोग सभी जगह होता है। वैसे ही अजीव का भी उपयोग होने के समय में ही लाभ होता है। प्रस्तुत ग्रन्थ भी आज ८८ वर्ष बाद उपलब्ध होकर कार्यान्वित हो रहा है। कोई समय की अनुकूलता या योग्यता होती है तब प्राप्त हो पाती है। इसी का नाम काल लब्धि भी है।

उन्हीं के पट्टाधीश आचार्य परमेष्ठी महावीरकीर्ति जी महाराज कहते हैं कि आज के बलवीर्य या संहनन के हीन होने से अपराधों का होना स्वाभाविक है।

उनका शोधन प्रायश्चित्त से करते रहना चाहिए। आगे-२ इसी प्रकार करते रहने से अपराध होना रुक जाता है और आत्मा निर्दोष या दोषमुक्त हो जाती है। इसीलिए इस ग्रन्थ की महत्तता बहुत बढ़ जाती है। क्योंकि यह गृहस्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है। परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि प्रायश्चित्त देने का अधिकार हर एक को नहीं है। जिसको अनुभव है, ग्रंथों को पढ़ा है। दीर्घकालीन दीक्षित हैं ऐसे आचार्य को ही देने का अधिकार है। दिगम्बराचार्य साधुओं को और गृहस्थाचार्य गृहस्थों को उनके अपराधों की शुद्धि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, बल, वीर्य के अनुसार करने के लिए आज्ञा है। इसी व्यवस्था के चलने पर भव्य प्राणियों की आत्मा की शुद्धि होगी और धर्म की वृद्धि होगी। कहा भी है-

दव्वेखेत्ते काले भावे च कदावराहसोहणयं।
णिंदण गरहण जुत्तो मण वच कायेण पडिकमणं॥

अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से हुए अपराध का शोधन निंदा गरहा सहित मन-वचन-काय से प्रतिक्रमण द्वारा होता है।

आत्म साक्षी में अपराध का निवेदन निंदा कहा जाता है और गुरु की साक्षी में अपराध का निवेदन गरहा कहा जाता है। गुरु की भक्ति का माहात्म्य दिखाते हुए कहते हैं कि-

ईर्यापथे प्रचलताऽद्य मया प्रमादा- द्वेकेन्द्रिय प्रमुख जीव निकाय बाधा।
निर्वर्तिता यदि भवेदयुगांतरेक्षा, मिथ्या तदस्तु दुरितं गुरु भक्तितो मे॥

अर्थात्- ईर्यापथ में गमन करने से तीव्र गति से चलने में आज मेरे द्वारा प्रमाद से एकेन्द्रिय आदि जीवों की चार हाथ जमीन देखने में चलने में पैरों में आकर उनको यदि बाधा हुई है तो वह मेरे पाप गुरु भक्ति के प्रसाद से मिथ्या होवें।

आर्यिका शीतलमति

प्रकाशकीय......

आचार्य आदिसागर अंकलीकर विद्यालय, २५ रवयान रोड इटावा (उ. प्र.) ज्ञानवृद्धि का केन्द्र रहा है। अंकलीकर वाणी पत्रिका यहीं से प्रकाशित होती है। इसके पूर्व में त्रिलोकसार मंडल प्रकाशित हुआ तथा यह प्रायश्चित्त विधान ग्रंथ पाठकों के हाथों में है।

यह आचार्य आदिसागर जी अंकलीकर प्रणीत अपराध शोधन का श्रेष्ठ ग्रन्थ है। इसका संस्कृत काव्यानुवाद पट्टाधीश आचार्य महावीर-कीर्ति जी ने किया है और इसका हिन्दी भाषानुवाद गणिनी आर्यिका विजयमतिजी ने किया है।

इस ग्रन्थराज के प्रकाशन का कार्य भार आचार्य आदिसागर अंकलीकर विद्यालय को प्राप्त हुआ है। प्रबुद्ध पाठकगण मूल आचार्य के हृदयंगत मंतव्यों को एवं भावों को जानकर उद्घाटित करने में सहायता मिलेगी। इसके प्रकाशन का उद्देश्य है कि जिन शासन जयवंत होता हुआ वृद्धिंगत हो। शुभकामनाओं सहित-

विष्णु कुमार चौधरी

५१, शाहयान,

इटावा (उ. प्र.)

विष्णुकान्त शास्त्री
राज्यपाल, उत्तरप्रदेश

राजभवन
लखनऊ - २२७१३२

संदेश

मुझे यह जानकर अतीव प्रसन्नता हुई कि मुनिकुञ्जर चारित्र चक्रवर्ती परम पूज्य १०८ आचार्य आदिसागरजी अंकलीकर द्वारा लिखित "प्रायश्चित्त विधान" नामक ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा रहा है।

महाराष्ट्र प्रांत के सांगली जिला के ग्राम अंकली में जन्मे परम पूज्य आचार्य आदिसागरजी ने भगवान महावीर के सत्य, अहिंसा, प्रेम, एकता और शांति-सद्भाव के पावन सन्देश को आगे बढ़ाने का सराहनीय प्रयास किया है। वस्तुतः भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का अपना एक विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिसमें क्षमा, त्याग, तप, चिन्तन, सद्व्यवहार, दया और करुणा के साथ ही "अहिंसा परमोधर्मः" तथा "जियो और जीने दो" का मर्म समझाया गया है।

"प्रायश्चित्त विधान" ग्रंथ के सफल प्रकाशन हेतु मैं अपनी हार्दिक मंगलकामनाएँ प्रेषित करता हूँ।

(विष्णुकान्त शास्त्री)

•••• श्री वीतरागाय नमः •••

श्रीमदाचार्यादिसागरांकलीकर विरचित

प्रायश्चित्त विधान

हिन्दी टीकाकार का मंगलाचरण

सिद्ध बुद्ध अविरुद्ध निरंजन चिदानंदमय राजत है,
शिवपुरवासी अचल अनुपम शुद्धातम अनुभवते हैं।
जिनके सुमरण वन्दन से भव-भव के पातक नशते हैं,
सम्यक्ज्ञान जगे मम उर में भक्तिभाव युत वंदन हैं॥ १॥

दोष अठारह नाश किये जिन समवशरण में राज रहें,
घात-घातिया चारों जिनने गुण अनंत चउ प्राप्त किए।
अष्ट सहस नामों से जिनकी स्तुति आ अमरेश करें,
उन अरिहंत जिनेश्वर की मैं, भक्ति नमन कर निजकार्य करूं॥ २॥

प्रथमाचार्य श्री आदिसागर जी अंकलीकर कहलाते हैं।
लुप्त हुई यति परंपरा को कृपा से उनकी पाये हैं॥
धन्य गुरु सदुपदेशामृत पान कराकर सन्मारग दर्शाये हैं।
नमस्कार करती चरणों में विधि टीका की बतला देना॥ ३॥

महावीर कीर्ति गुरु नमन कर विमल सिंधु को ध्याय।
तृतीय पट्टाधीश हैं श्री सन्मति सिंधु महान॥
इनके चरण प्रसाद से पाऊँ निर्मल शुभ ज्ञान।
प्रायश्चित्त शुभ ग्रंथ की टीका हो सुखकार॥ ४॥

••• श्री वीतरागाय नम: •••

णमोत्थुणं गुरु पंच परमट्ठाण संट्ठियं ।
पायच्छित्त विहिं वोच्छे संखेवा गहचारिणा ।। १ ।।

नमस्कृत्यं गुरून् पंच, परम स्थान संस्थितान् ।
प्रायश्चित्त विधिं वक्ष्ये, संक्षेपात् गृहचारिणां ।। १ ।।

पंच परम स्थान में, विद्यमान गुरु को नमन करुं ।
संक्षेप में गृहस्थ को, प्रायश्चित्त विधि को कहूं ।। १ ।।

परम-उत्कृष्ट स्थान में स्थित् पंच परम गुरुओं को अर्थात् पंच परमेष्ठिओं को नमस्कार करके गृहस्थों की प्रायश्चित विधान नामक ग्रंथ को संक्षेप से निरूपण करूँगा । आचार्य श्री आदिसागर अंकलीकर ने इस प्रायश्चित विधान नामक प्रस्तुत ग्रंथ की रचना की प्रतिज्ञा की है ।। १ ।।

णिच्चणेमित्तकायारे गिहि मुक्ते जिणेत्थूसु ।
तत्थणिंच्च अणुट्ठाणं तं विहिं गहचारिणा ।। २ ।।

नित्य-नैमित्तिकाचारे,-गृहीभुंक्ते जिनोक्तेषु ।
तत्रनित्यमनुष्ठानं, प्राग्-विधिं गृहचारिणां ।। २ ।।

जिन भक्ति सहित, गृहस्थ नित्य विशेष में प्रवृत्ति करे ।
गृहस्थ अनुष्ठान विधि, तो नित्य पहले करे ।। २ ।।

श्रावकाचार की नित्यप्रति करने योग्य नैमित्तिक के विषय में जिनेन्द्र भगवान की वाणी में प्रथम विधि क्या है ? नित्य करने योग्य अनुष्ठान की विधि को निम्न प्रकार से करना आवश्यक है । प्रथम भक्ष्याभक्ष्य का विचार कर भोजनशुद्धि का विचार करें ।। २ ।।

अरह यति सूरीय चारित्त सज्झ संजमो ।
वय पालण दाणंच अणुट्ठेय गिहासमे ।। ३ ।।

अर्हत्पूजानमाचार्याः, चास्ति स्वाध्याय संयमो।
व्रतानां पालनं दान, मनुष्ठेयं गृहाश्रमे॥ ३॥

संयम, स्वाध्याय, अरहंत पूजा, आचार्य को नमन कर।
गृहस्थ श्रेष्ठ दान को देय, व्रत का पालन कर॥ ३॥

गृहस्थाश्रमवासी श्रावकों को प्रतिदिन अर्हंत भगवान की पूजा, आचार्य-उपाध्याय एवं साधु परमेष्ठियों की अर्चना, भक्ति, स्वाध्याय-आर्ष परंपरागत ग्रन्थों का अध्ययन, शक्ति अनुसार इंद्रिय संयम और प्राणी संयम धारण, अणुरूप व्रतों का पालन, एवं चतुर्विध संघ को चार प्रकार का दान करना चाहिए। आहार, औषधि, ज्ञान (शास्त्र) और अभयदान के भेद से दान चार प्रकार का कहा है। अर्थात् उपर्युक्त षट् कर्मों का पालन करना, अनुष्ठान करना प्रत्येक श्रावक का नित्य नैमित्तिक कर्तव्य है।

अभक्ष्य भक्षणादि से इन्द्रियों को निर्वृत्त करना, अर्थात् पांचों ही इन्द्रियों को अपने-अपने अयोग्य, अनुपयोगी विषयों से विरत दूर रखना इन्द्रिय संयम है। यथा शक्ति स्थावर जीवों का और सर्वथा त्रस जीवों की रक्षा करना प्राणी संयम है॥ ३॥

तिसंज्झमाचरे पूया चउविंसई संथवं।
उत्तिमायारणं उत्तं जवझाणत्थु इच्छेज्जं॥ ४॥

त्रिसंध्यमाचरेत् पूजां, चतुर्विंशति संस्तवं।
उत्तमाचरणंप्रोक्तं, जपध्यानस्तु वांच्छितं॥ ४॥

तीन संध्याओं में २४ तीर्थंकर की, पूजा स्तुति करें।
उत्तम आचरण से युक्त, जप ध्यान से इष्ट फल प्राप्त करें॥ ४॥

श्रावकों को प्रातःकाल, मध्याह्न समय और संध्याकाल अर्थात् तीनों संध्याओं में जिन भगवान की पूजा और चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करना चाहिए। तथा इच्छानुसार यथा शक्ति, यथायोग्य जप - महामंत्र का जप और ध्यान भी करना चाहिए। यह उत्तम आचरण कहा है॥ ४॥

जव-पंच-णमुक्कारं, पखुत्ति गणस्सई ।
पंचाणं गुरूणं च, सग्गुणुक्कित्तणं थवो ॥ ५ ॥

जप पंच नमस्कारं, परिवृत्तिर्गणस्मृतिः ।
पंचानां सु-गुरूणां च, सद्गुणोत्कीर्तनं स्तवः ॥ ५ ॥

पंच नमस्कार का जाप, समस्त साधुओं का ध्यान ।
करें पंच गुरुओं के, सद्गुणों का कीर्तन व स्तवन ॥ ५ ॥

महामंत्र पंच नमस्कार का पुनः पुनः स्मृति करना जप है तथा पंच परमेष्ठी गुरुओं के उत्तम सद्गुणों का कीर्तन, व्याख्यान या वर्णन करने को स्तवन कहते हैं। यहाँ पर अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पंच परमेष्ठी बताये हैं। इन्हीं का वाचक अपराजित मंत्र णमोकार मंत्र है। इस मंत्र का बारंबार स्मरण करना जप कहलाता है। तथा इन्हीं का सद्गुण बखान करना स्तुति है।

सामान्य से साधु तीनों को कहते हैं। विशेष विचार करने पर साधु पद साधु को ही जानना चाहिए। इसलिए आचार्य, उपाध्याय, साधु कहते हैं, साधु को आचार्य, उपाध्याय पद नहीं कहते हैं। इसका स्पष्टीकरण यह है कि अट्ठाईस मूलगुण की अपेक्षा तीनों साधु पद समान हैं। साधु के अट्ठाईसमूलगुण अलग हैं। देखिये -

दह दंसणस्सभेया, भेया पंचेव हुंति णाणस्स ।
तेराविह सच्चरणं, अडवीसा हुंति साहूणं ॥ च. स. ॥

आज्ञादि सम्यक्त्व दश, मत्यादि ज्ञान पांच, अहिंसादि महाव्रत ५, समिति ५, गुप्ति ३ ऐसे ये तेरह प्रकार या भेद वाला सम्यक् चारित्र ये साधु के अट्ठाईस गुण अलग प्रकार के जानना चाहिए। यदि कोई यहाँ पर शंका करे कि साधु के अट्ठाईस मूलगुण किस अपेक्षा से हैं और ये अट्ठाईस गुण किस अपेक्षा से हैं ? उसका समाधान यह है कि अट्ठाईस मूलगुण का वर्णन एक साधु की अपेक्षा है। और अट्ठाईस गुण का वर्णन नाना साधुओं की अपेक्षा से है। इसलिए अट्ठाईस मूलगुण बिना साधु पद सर्वथा नहीं होता है और अट्ठाईस गुण साधु के यथायोग्य पाये जाते हैं ॥ ५ ॥

जवादित्ति तिहिजुत्तं पूयणं परमेट्ठिणं ।
सामाइगा गेण्हाणं कहइ वित्तमुत्तिमं ॥ ६ ॥

जपादिति त्रिभिर्युक्तं, पूजनं परमेष्ठिनां ।
सामायिकादिके स्नाने, वर्तति वृत्तमुत्तमं ॥ ६ ॥

तीन गुप्ति सहित, पंच परमेष्ठी की पूजन व जाप कर ।
सामायिक में मग्न हो, उत्तम व्रत का पालन कर ॥ ६ ॥

स्नानादि क्रिया करने पर सामायिकादि क्रिया में मन, वचन, काय की शुद्धि पूर्वक जपादि एवं पंच परमेष्ठियों की भक्ति से पूजन करना चाहिए। अर्थात् प्रथम शरीर शुद्धि करना श्रावक का कर्त्तव्य है। पुनः आर्त रौद्र परिणाम त्याग मन की शुद्धि करे। शुद्ध उच्चारण करते हुए महामंत्र णमोकार का जाप तथा साम्य भावरूप सामायिक करें, तदनंतर अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय व साधु परमेष्ठियों की यथायोग्य पूजन करें ॥ ६ ॥ तथा -

घडीणं णव अक्कस्स, सत्तगो पंचगो सरो ।
कालत्तयो तवोवित्ती, मज्झं किच्चा अणुट्ठियं ॥ ७ ॥

घटीनां नवकेऽर्कस्य, सप्तकः पंचकः स्मृतः ।
कालास्त्रयो तपोवृत्या, मध्यं कृत्वानुष्ठायिनां ॥ ७ ॥

कठोर नव नाड़ी स्पर्श से, सात पांच की स्मृति होय ।
काल के अंधकार में तप, व्रत के मध्य अनुष्ठान होय ॥ ७ ॥

सूर्योदय के समय अर्थात् ब्राह्ममुहूर्त में नौ घड़ी - ९ x २४ = दो सौ सोलह मिनट = तीन घंटा छत्तीस मिनट अथवा सात घटी अर्थात् दो घंटा अड़तालीस मिनिट तथा पांच घटी अर्थात् दो घंटा सामायिक करना उत्तम तपोनुष्ठान है। इस प्रकार प्रतिदिन अनुष्ठान करने वालों का यह क्रम से उत्तम, मध्यम, व जघन्य समय समझना चाहिए। इसी अभिप्राय को निम्न श्लोक में स्पष्ट किया है ॥ ७ ॥

अक्कुदयादु तं सत्त पंचतिघडिगो अह।
कालाणुट्ठाण-जोग्गो य, मज्झण्हे वितहा हवे ॥ ८ ॥

अर्कोदयास्तमात्सप्त, पंच त्रिघटिकोऽथवा।
कालोऽनुष्ठान योग्योऽयं, मध्यान्हेऽपि तथाभवेत् ॥ ८ ॥

सूर्य उदय व अस्त पर, घड़ी सात-पांच की होय है।
योग्य काल का, अनुष्ठान मध्य में भी होय है ॥ ८ ॥

सूर्य के उदय काल में तथा अस्तंगत समय में अर्थात् प्रातः और संध्या समय क्रम से सात, पाँच, तीन घड़ी पर्यंत सामायिकादि अनुष्ठान का योग्य समय निर्धारित माना है। इसी प्रकार मध्यान्ह काल में भी अनुष्ठान विधि का समय जानना चाहिए। प्रत्येक श्रावक को योग्य काल में ही कर्त्तव्य करना चाहिए। यथायोग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में की हुई क्रिया सफल होती है। उत्तम फल प्रदान करती है ॥ ८ ॥

कालस्सइक्कम जाई पंच मंत सयं भजे।
जइवि विसुद्धएंति तओविअणुट्ठाणए ॥ ९ ॥

कालस्यातिक्राम आति, पंचमंचं शतं जपेत्।
यद्यपि विशुद्धयंति, ततोऽनुष्ठानमारभेत् ॥ ९ ॥

काल का अतिक्रमण होय, तो पंच मंत्र का पुष्पों से १०० जाप करें।
तो भी विशुद्ध होकर, अनुष्ठान करें ॥ ९ ॥

नित्य नैमित्तिक जपादि अनुष्ठानों का यदि समय उल्लंघन हो जाय अर्थात् यथा समय न हो सके तो एक सौ आठ बार अपराजित मंत्र (पंच नमस्कार) का जाप करना चाहिए। इससे उस प्रमादजन्य दोष की निवृत्ति होती है। अर्थात् अतिचारादि दोष दूर होकर अनुष्ठानादि विधि शुद्धि को प्राप्त होती है। इस प्रकार शुद्धिकर पुनः क्रिया प्रारंभ करना चाहिए ॥ ९ ॥

कालस्सेग विहीणाणं, पूजाए परमेट्ठिणं।

पंचक्खर पदं मंतं सय अट्ठुत्तरं भजे ॥ १० ॥

कालस्यैक विहीनानां, पूजायां परमेष्ठिनां ।

पंचाक्षरं पदं मंत्रं, शतमष्टोत्तरं जपेत् ॥ १० ॥

एक काल के कम होने पर, पूजा परमेष्ठी की करें ।

णमो सिद्धाणं मंत्र का, १०८ बार जाप करें ॥ १० ॥

पंच परमेष्ठी भगवंतों की त्रिकाल पूजा का विधान आगम में उपदिष्ट है। यदि कोई एक काल का उल्लंघन हो जाय अर्थात् कारणवश प्रमाद कषाय वश यदि न हो सके तो उसकी शुद्धि के लिए पंच परमेष्ठी वाचक महामंत्र णमोकार का एक सौ आठ बार जप करना शुद्धि के लिए आचार्यों ने प्रायश्चित्त कहा है। अर्थात् एक माला णमोकार मंत्र की जाप करने से दोष की शुद्धि होती है ॥ १० ॥

संज्झत्तयच्चणत्थोवं णियम जईणं सयं ।

एमत दुवो छिण्णा वि अण्णत्थ दुगुणं चरे ॥ ११ ॥

संध्या त्रयार्चना संस्तोत्रं, नियम यतीनां सतं ।

एकत्रद्वयोछिन्नाया, मन्यत्र द्विगुणं चरेत् ॥ ११ ॥

यति नियम से अर्चना स्तोत्र, तीनों समय में करते हैं ।

एक दो या अन्यत्र भी, दो गुणों का आचरण करते हैं ॥ ११ ॥

यतीश्वरों की पूजा-अर्चना व स्तुति करने का विधान तीनों संध्याओं में करने का नियम है। अर्थात् प्रातः, मध्यान्ह एवं संध्या काल में अर्चना व स्तोत्र स्तुति करना आवश्यक है। यदि इन कालों में से एक दो समय का उल्लंघन हो जाय तो दूना-दूना द्विगुण मंत्र जाप करें। अर्थात् एक संध्या चूकने पर एक माला दो समय न हो सके तो दो माला आदि ॥ ११ ॥

आयावंते जवं कुज्जे मंतस्स दुत्तरं सयं ।

दु सज्झायार विंसओ कुज्जा सय जवं जवे ॥ १२ ॥

आदावंते जपं कुर्यात्, मंत्रस्याष्टोत्तरशतं ।
द्विसंध्याचार विंशतो, शतोत्कुर्यात् जप क्रियां ॥ १२ ॥

पूर्व के जप के बाद, १०८ बार मंत्र का जाप करना चाहिए।
दोनों संध्याओं में २० बार, १०० मंत्रों का जाप करना चाहिए ॥ १२ ॥

विधिरूप क्रियाओं के आदि (प्रारंभ) और अंत (समाप्ति) काल में एक सौ आठ-एक सौ आठ बार जाप करें। माला में एक सौ आठ मणियां और तीन मेरु के होते हैं तथा नौ कायोत्सर्ग के होते हैं इस प्रकार इक्कीस बार जप की क्रिया करें ॥ १२ ॥

एगस्सिं दिवसे कालं, तियद्धाणयणिट्ठियं ।
ण्हव णव-कुंभगं महण्हाणं च कज्जए ॥ १३ ॥

एकस्मिन्दिवसे काल, त्रयानुष्ठान ह्यनिष्ठितं ।
स्नपयेन्नवति कुंभे, महास्नानं कार्येज्जिनं ॥ १३ ॥

एक दीन के तीनों काल में, हीन अनुष्ठान के होने पर ।
घी जल के नौ घड़ों से, जिनेन्द्र देव का अभिषेक करें ॥ १३ ॥

यदि एक दिवस के अनुष्ठान की हानि हो जाय तो उस शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त रूप में श्री जिनेन्द्र भगवान के पावन प्रतिबिंब (प्रतिमा) का नब्बें कलशों से भक्ति पूर्वक महाभिषेक करना चाहिए ॥ १३ ॥ तथा-

हामहं जिणिंदाणं पंच मंडल मज्झओ ।
णिक्खेवे तिंसय पुप्फं मूल मंतं भजे सुही ॥ १४ ॥

महामहं जिनेंद्राणां, पंचमंडल मध्यतः ।
विधाय त्रिशतं पुष्पे, मूलमंत्रं जपेत् सुधीः ॥ १४ ॥

जिनेन्द्र देव को पंच मण्डल के, मध्य में विराजमान करें ।
तीन सौ पुष्पों से, महामूल मंत्र का जाप करें ॥ १४ ॥

पंचमंडल रचकर मध्य में श्री जिनबिंब विराजमान करें। पुनः तीन सौ सुगंधित ताजे प्रफुल्ल कुसुमों-पुष्पों से जाप करें। अर्थात् णमोकार महामंत्र का पुष्प चढ़ाते हुए तीन सौ बार णमोकार महामंत्र का जाप करना चाहिए॥ १४ ॥ तथा-

जव-पूय च विज्जं च काउस्सग-तियण्णियं।

दिण दुव-सुकिज्जेज्ज दुव-संज्झतवच्चरे ॥ १५ ॥

जप पूजां विधामेवं, कायोत्सर्ग त्रयान्वितं।

दिन वियं सकृत भुंज्या, द्विक संध्या तपश्चरेत् ॥ १५ ॥

विधि से जाप पूजा कर, तीन से कायोत्सर्ग करें।

दोनों संध्याओं में, अच्छी तरह से तपस्या करें ॥ १५ ॥

उपुर्यक्त विधि से पुष्प पूजा करके तीन कायोत्सर्ग करें। साथ ही यह क्रिया दो दिन पर्यंत करते हुए एक भुक्ति रूप तप करना चाहिए। अर्थात् दो दिवस हानि पर दुगुना करें॥ १५ ॥ तथा-

तिवग्ग कलसंणिक्खे सुत्तं अट्ठणिवाडए।

अज्झ पुव्व मुहं कुज्जा, अद्धमुत्तर दिग्मुहं ॥ १६ ॥

त्रिवर्गाकलशा न्यासे, सूत्राण्यष्टौनिपातयेत्।

अर्द्ध पूर्वमुखं कुर्याद, र्द्धमुंत्तर दिग्मुखं ॥ १६ ॥

कलश को सूत्रों से बांधकर, तीन वर्ग में रखें।

आधे का मुख पूर्व में, आधे उत्तर दिशा में रखे ॥ १६ ॥

तीन गुणित कलशा स्थापित आठ बार सूत्र से वेष्टित कर आधे कलशों को पूर्व की ओर अर्द्ध कलशों को उत्तर की ओर स्थापित करें। इस प्रकार रचना कर श्री जिनेन्द्र भगवान को अभिषिक्त करना चाहिए॥ १६ ॥

तिदिवायार-दाणुत्तं, रायप्पमिइ हीणं।

अहिसिंच्चेज्ज णिच्चं स कुज्जे जव सहस्सगं ॥ १७ ॥

त्रिदिवाचार दानोक्तु, राजा प्रमिते हीनेः।

अभिषिंच्यार्चनं कृत्वा, कुर्या जप सहस्रकं ॥ १७ ॥

हीन आचरण से युक्त राजा, तीन दिन अभिषेक व अर्चना करें ।
वह प्रमाण से छींटे देता हुआ, एक हजार जाप करें ॥ १७ ॥

तीन दिन पर्यंत यदि दैनिक धर्माचरण की हानि हो जाय तो उपर्युक्त प्रमाण कलशों से अभिषेक कर श्री प्रभु की अर्चना पूजा करके एक हजार महामंत्र का जाप करें । अर्थात् दशमाला जप से प्रायश्चित्त समझना चाहिए ॥ १७ ॥

संति होमं च पुण्णाहं किच्चेगं सयं तवो ।
अरह गुण थोवं च काउस्सग्ग दिसिक्कम्मा ॥ १८ ॥

शांति होमं च पुण्याहं, कृत्वेकान् शतं तपः ।
अर्हद् गुण स्मृतिं कुर्यात्, कायोत्सर्गं दिशि क्रमात् ॥ १८ ॥

अरहंत गुणों की स्मृति कर, क्रम से दिशा में कायोत्सर्ग करें ।
पुण्य के लिए शांति होम कर, सौ बार तप करें ॥ १८ ॥

उपर्युक्त क्रिया करने के बाद शांति विधि और होम करे, तथा एक कम सौ अर्थात् ९९ निन्यानवे बार महामंत्र का जाप करना तप है पुनः श्री अरहंत देव के गुणों का स्मरण करते हुए क्रमशः दशों दिशाओं में कायोत्सर्ग भी करें ॥ १८ ॥

चउठवग्ग घडक्खेवे, सुत्ताणिं चउदसं ।
चउरो कलसम्मज्झे दुवालसं विदंसेइ ॥ १९ ॥

चतुर्वर्गघट न्यासे, सूत्राणि स्युश्चतुर्दश ।
चत्वारः कलशामध्ये, द्वादशको विदिश्यपि ॥ १९ ॥

सूत्र से युक्त चार वर्ग में, १४ घट स्थापित करें ।
चार कलशों को मध्य में, बारह को विदिशा में स्थापित करें ॥ १९ ॥

यदि चार दिन आचार क्रम विधान न हो सका तो उसकी शुद्धि प्रायश्चित्त इस प्रकार करें । प्रथम दिनापेक्षा चार गुणे कुंभ (कलश) स्थापित करें, सम्यक् प्रकार चारों सूत्र से वेष्टित करें । कलश चारों दिशाओं में स्थापित कर मध्य में

चार कुंभ स्थापित करें। पुनः चारों विदिशाओं में बारह कलश स्थापित करें। विधिवत् अभिषेकादि क्रिया कर अपने दोषों की शुद्धि करना चाहिए॥ १९॥

दिणेसु पंचसु खिव्वे, आ रस्स हि सिंचए।
पंचविंसइ सक्कुं भे पुव्ववं पूयए जिणं॥ २०॥

दिनेषु पंचषु क्षिप्तौ, स्वाचारस्याभिषेचयेत्।
पंचविंशति सत्कुंभैः, पूर्ववत् पूजयेज्जिनं॥ २०॥

पांच बार दिन में, स्व आचरण से अभिषेक करें।
२५ घड़ों से पूर्व की तरह, जिनेन्द्र की पूजा करें॥ २०॥

यदि श्रावकाश्रमवासी की चार दिवस पर्यंत षट् कर्म आचार की हानि हो गई हो तो उस दोष की शुद्धि के लिए पच्चीस कलश अधिक अर्थात् उपरोक्त संख्या से अधिक स्थापित कर श्री जिनाभिषेक करें। तथा पूर्वोक्त विधि से पूजा स्तवनादि भी करें। यह सर्वविधि पांच दिवस पर्यंत करना चाहिए॥ २०॥ तथा-

एगो पंच समा घोसो दुसहस्सं पद भजे।
सक्किद-भुत्ति कुज्जे काउस्सग्गं दिसा अवि॥ २१॥

एकोपंच समाघोष्य, द्विसहस्रं पदं जपेत्।
सकृद्भुक्ति द्वयं कुर्यात्, कायोत्सर्गं दिशापि च॥ २१॥

एकावन बार समरूप से घोषणाकर,
दो हजार पदों का जाप करना चाहिए।
दो भुक्ति कर, कायोत्सर्ग दिशाओं में करना चाहिए॥ २१॥

दो हजार बार पंच पद मंत्र का जाप करें। दो दिन एकाशन एक भुक्ति करें तथा प्रति दिशा में कायोत्सर्ग भी करें। अभिप्राय यह है कि दिग्वंदना पूर्वक श्री महामंत्र णमोकार का दो हजार जप करना चाहिए॥ २१॥

पंचवग्गघडक्खेवे सुत्ताणिं जुत्ति सोडसो।
मज्झ णव घडण्णेयो कोणे गो दिसितिण्णित्ति॥ २२॥

पंच वर्ग घट न्यासः, सूत्राण्युक्तानि षोडश।
मध्य नव घटाः ज्ञेयाः, कोण एको दिशि त्रयः ॥ २२ ॥

पांच वर्गों में सूत्रों से युक्त सोलह घटों को स्थापित करें।
मध्यम में नव को कोण की एक दिशा में तीन घटों को स्थापित करें ॥

सूत्र से आवेष्टित कर अर्थात् पंचवर्ग के सूत्रों से वेष्टित घटों की स्थापना करें। सोलह कलश चारों दिशाओं में चार-चार स्थापित करें। प्रत्येक कोण विदिशाओं में तीन-तीन कुंभ स्थापित करें तथा मध्य में नौ कुंभ स्थापित कर यथा विधि अभिषेक करना चाहिए॥ २२ ॥

साणुट्ठाणं अइक्कत्तं, दिवसेसु दसेसु अवि।
पण्णासयप्प मेज्जेज्ज कुंभण्हाण जस क्कमा ॥ २३ ॥

स्वानुष्ठानं चाति क्रांतो, दिवशेषु दशष्वपि।
पंचाशत प्रमिते कुंभैः, संस्नापयेशं यजेक्रमात् ॥ २३ ॥

अतिक्रान्त कर दश दिन में, स्व अनुष्ठान पूर्ण करना।
शोभने योग्य पच्चास घड़ों को, क्रम से रखना ॥ २३ ॥

दश दिवस पर्यंत यदि अपना अनुष्ठान-नित्य नियम क्रिया कलाप का समय उल्लंघित हो जाय तो उसके प्रायश्चित्त दोष शुद्धि के लिए पांच सौ कुंभ कलश स्थापित कर क्रमशः अभिषेक सहित जिनेश्वर की पूजा अर्चना करें॥ २३ ॥

चउस्सइजुयं मंतं, सहस्साणं चउण्हं च।
मणीहिं च करे पुप्फं, जव स्सय परम्मेट्ठिं ॥ २४ ॥

चतुः शति युतं मंत्रं, सहस्राणं चतुष्टयं।
मणिभिश्चकारिः पुष्पै, र्जपशत्-परमेष्ठीनां ॥ २४ ॥

चारसों से युक्त, अड़तलीस हजार मंत्र का जाप करें।
मणियों व पुष्पों से, पंच परमेष्ठी का जाप करें ॥ २४ ॥

चार सौ बार जाप करें। पुनः चारों संध्याओं में मणिमाला से एक-एक हजार जाप करें तथा उतने ही पुष्पों से करि अर्थात् कड़ी जाप करें। अर्थात् चार हजार पुष्पों से महामंत्र श्री णमोकार का जाप करें॥ २४॥

किच्चा एगासणं आइं, सकय भुत्ति चउहं च।

वितणेउ उक्कियं सग्गं सोलहारह गुणत्थुयं॥ २५॥

कृत्वेकानशनं चादौ, सकृद्-भुक्ति-चतुष्टयं।

वितनोत् उत्कृत सर्गान, षोडशार्हद्-गुण-स्मृतिः॥ २५॥

दो बार एकाशन कर, चार भुक्ति का त्याग करें।

अरहंत के सोलह गुणों का, विस्तार से स्मृति करें॥ २५॥

निन्यानवें अर्थात् एक कम सौ प्रथम जाप करें चार दिन एक भुक्त भोजन करें। पुनः सोलहवें शांतिनाथ तीर्थंकर प्रभु का गुण स्मरण करें। सोलह कायोत्सर्ग पूर्वक सोलह स्तोत्र पाठ करना चाहिए॥ २५॥

सत्त वग्ग घडखेवे सुत्ताण विंसइभया

णवमज्झ घडा कोणे चत्तारो सोलह भजे॥ २६॥

सप्त वर्ग घट न्यासे, सूत्राणां विंशतिर्मता।

नवमध्य घटाः कोणे, चत्वारः षोडश-स्मृतः॥ २६॥

सप्त वर्ग से सूत्र से युक्त, बीस घड़े स्थापित करें।

मध्य में नव घट, चार कोने में छब्बीस के क्रम से स्थापित करें॥ २६॥

एक सप्ताह का क्रम उल्लंघन होने पर सप्त बार वर्णित कलशे सूत्र से वेष्टित कर क्रम से स्थापित करें। चारों दिशाओं में बीस-बीस कुंभ संयोजित करें। चारों कोणों विदिशाओं में छब्बीस-छब्बीस सुसज्जित घटों की स्थापना करें। मध्य में नौ घटों की स्थापना करना चाहिए॥ २६॥

एग पक्खे अणुट्ठाणं हाणे णिहाण जव्वेउ।

एगासिदी घडो सव्वं गंध-दव्वम्बु पूरए॥ २७॥

एकपक्षेप्यनुष्ठानं, हानो संस्नाप्य च जपेत् ।
एकाशीति घटो सर्व, गंध द्रव्यांबु पूरयेत् ॥ २७ ॥

हानि रहित होकर, अच्छी तरह से एक पक्ष में जाप अनुष्ठान करें ।
८१ घड़ों को सभी सुगन्धित द्रव्यों से भरे ॥ २७ ॥

एक पक्ष पंद्रह दिन पर्यंत यदि दैनिक षट् कर्मों का अनुष्ठान नहीं कर सके तो इस काल संबंधी दोष की निवृत्ति के लिए इस प्रायश्चित्त विधि को करना चाहिए । इक्यासी घंटो के सम्यक् प्रकार सूत्र से वेष्टित करें , उनमें सर्व गंध अर्थात् सर्वौषधि मिश्रित जल भरें और पंच णमोकार मंत्र जप करते हुए श्री जिनाभिषेक करें ॥ २७ ॥ तथा जप करें -

पंच मंत्त सहस्साणं पण्णासयजुयं भजे ।
पण्णक्खर पदं मंत्तं पंचण्हं परमेट्ठिणं ॥ २८ ॥

पंचमंत्र सहस्राणां, पंचशत्यायुतं जपेत् ।
पंचाक्षर पद मंत्रं, पंचानां परमेष्ठीनां ॥ २८ ॥

पांच हजार या, पान सौ युक्त जाप करें ।
णमो सिद्धाणं या पंच परमेष्ठी का जाप करें ॥ २८ ॥

पांच परमेष्ठी वाचक महामंत्र का पांच हजार पांच सौ बार जाप करना चाहिए ॥ २८ ॥ तथा-

खो दो वासं सकं भुत्ती कुज्जे छक्कं परं तपं ।
परमेट्ठि गुणं थोवं काउसग्गं च विसंई ॥ २९ ॥

द्युपवासं सकृद्भुक्ति, कुर्यात् षट्कं परं तपः ।
परमेष्ठी गुण स्मृत्या, कायोत्सर्गश्च विंशतिः ॥ २९ ॥

दो उपवास षट् भुक्ति, यह परम तप करते हैं,
बीस बार कायोत्सर्ग कर, परमेष्ठी के गुणों का स्मरण करते हैं ॥ २९ ॥

दो उपवास और छह एकाशन रूप उत्तम तप करें । तथा पंच परमेष्ठी का गुण स्मरण करते हुए बीस कायोत्सर्ग करें ॥ २९ ॥

एकासीदी घडं खेवे चउविंसई सुत्तगे ।
दिसिमज्झे चउकोणे णव णवो कलसं ठवे ॥ ३० ॥

एकाशीति घट न्यासे चतुर्विंशति सूत्रकैः ।
दिशिमध्ये चतुष्कोणे, नव नवो कलशाः स्मृताः ॥ ३० ॥

२४ सूत्रों के द्वारा ८१ घटों की स्थापित करना चाहिए।
दिशा के मध्य चारों कोनों में नव नये कलशों का स्मरण करना चाहिए ॥ ३० ॥

चतुर्विंशति सूत्र में वर्णित विधान के अनुसार ससूत्र सज्जित ८१ घट स्थापित करें अर्थात् चारों दिशाओं, चारों विदिशाओं तथा मध्य में नौ-नौ घट स्थापित करें ॥ ३० ॥ एवं-

एग मासे अणुट्ठाणं हाणो निहाणंए जिणं ।
अट्ठुत्तरं सयं कुभे सव्वोसहि जुयं बूहि ॥ ३१ ॥

एकमासेप्यनुष्ठानं, हानो संस्नापयेज्जिनं ।
अष्टोत्तर शत कुंभैः, सर्वौषधि युतांबुभिः ॥ ३१ ॥

एक मास का अनुष्ठान कर, अरहंत जिन को स्थापित करें।
१०८ घड़ों को निश्चय से सर्वौषधि से भरे ॥ ३१ ॥

एक महीने पर्यंत स्व आवश्यक कर्म की क्षति हो जाने पर इस प्रकार प्रायश्चित्त करना चाहिए। सर्वौषधि विमिश्रित जल से परिपूर्ण एक सौ आठ कलशों को स्थापित कर यथोक्त विधि से श्री जिन भगवान का भक्ति युत अभिषेक करना चाहिए ॥ ३१ ॥ तथा-

विज्जा अरहं पूय अच्चणं मंडलक्कमा ।
अट्ठासयुत्तरं कुज्जै जव (भवं) अट्ठसहस्सगं ॥ ३२ ॥

विद्ध्यादर्हतां पूजा-मर्चना मंडल क्रमात् ।
अष्टाशत्युत्तर कुर्याद्, जपमष्ट सहस्रकं ॥ ३२ ॥

मण्डल में स्थापित कर, अरहंत पूजा अर्चना क्रम से करें।
१०८ जाप जप, आठ हजार जाप करें ।। ३२ ।।

मंडलमांडकर क्रम से अभिषेक के अनंतर जिन पूजा अर्चना करें तथा आठ हजार आठ सौ महामंत्र का एकाग्रचित्त से जाप करें ।। ३२ ।।

उपवासत्तयं किच्चा अवमेदारि वे तवो।
विति संकआ रसच्चागे एक सित्था तवोचरे ।। ३३ ।।

उपवास त्रयं कृत्वा, वमौदर्य-द्वयं ततो।
वृत्ति संख्या रसत्यागे, चैक सिक्था तपश्चरेत् ।। ३३ ।।

तीन उपवास कर, दो अवमौदर्य करता है।
शक्ति अनुसार रस त्याग कर, तपस्या करता है ।। ३३ ।।

साथ में तीन उपवास और दो अवमौदर्य अर्थात् आधा पेट भर भोजन करें। भूख से कम आहार करना अवमौदर्य तप कहलाता है। तत्पश्चात् वृत्तिसंख्यान तथा रस परित्याग तपाचरण करना चाहिए। अवमौदर्य में एक कण भात भोजन तक कहा है ।। ३३ ।।

तिम सकप सग्गंच जण्णेणय तवोत्थु सो।
बं चरिमणुट्ठेयं पायच्छित्त दिणे बुहे ।। ३४ ।।

त्रिंशत्मितां सकृत्सर्गानि, प्रयत्नेन ततो तु सः।
ब्रह्मचर्य मनुष्ठेयं, प्रायश्चित्त दिने बुधाः ।। ३४ ।।

तीस कायोत्सर्ग कर एक भुक्ति को बढ़ावें।
ब्रह्मचर्य का पालन कर प्रायश्चित्त विधान का अनुष्ठान करावें ।। ३४ ।।

प्रयत्नपूर्वक तीस पर्यंत कायोत्सर्ग अथवा एक भुक्ति को बढ़ावें। इस प्रकार असि धारा व्रत-ब्रह्मचर्य पूर्वक विद्वान प्रायश्चित्त विधान का अनुष्ठान करें ।। ३४ ।।

सुत्तं सोलह भासियं णवपदे अट्ठाहिसंक्खे कए।
तुम्हं पादसु ओ सतुरिमो परथ च सुण्णं बुही ।।

बिण्णेहे कलसं कए हि णव अंस स कुत्ते पुणो।
मज्झे एगमिइ दुवेऽत्थु सयणिक्खेवं कुणे पंडिया ॥ ३५ ॥

त्रिंशत्सूत्रेण कृत्वा-खर सु शिर धरा-संमिताशान्दिशासुत्।
पंचकमध्ये द्विवीथि-गिरिमित् कलशानष्ट पंक्ति सुवृत्ते ॥
बाह्येपंक्ति द्वयोऽपि प्रतिविदिशि घटान् विंशतिं तच्चतुर्थे।
पंचैकं कुंभमंतर्वसुजस्तदपार्पतुमा कुंभवासः ॥ ३५ ॥

पहले तीस सूत्र बनाकर तीस प्रकार का विन्यास करें।
उस पृथ्वी पर पाँच मध्य में पहले खर स्थापित करिये ॥
फिर दोनों के बीच में आठ कलश गोल पंक्ति में करना चाहिए।
बाहर की पंक्ति में दोनों तरफ दिशा विदिशा में बीस घड़े रखने चाहिए ॥ ३५ ॥

सर्वप्रथम तीस सूत्र बनाकर तीस प्रकार का विन्यास करके उस भूखंड पर पंचक के मध्य में खर आदि पूर्वक स्थापित करना चाहिए। इसके अनंतर दोनों के बीच में आठ कलश से वृत्ताकार पंक्ति बद्ध करना चाहिए। बाहरी पंक्तियों के दोनों ओर दिशा विदिशाओं में बीस घट स्थापित करने चाहिए। (पांच-पांच की संख्याओं में चार पंक्तियों में) ॥ ३५ ॥

वज्जियणं अट्ठ पएसु सत्त कलसा विति च मज्झे।
सुही एसिं अट्ठसयप्पमाणं घड विक्खेव कमक्कम ॥
सुत्त च दुवे हि भासिय पए अवअसंखे कए।
तु पादं परिओ सविरहिय हरिभागस्स कुम्भे सु ॥ ३६ ॥

सूत्रोषोडश भाषितं नव-पदे, अष्टाभिसंख्ये कृतेषु।
ध्वत् पार्श्वोः परितः सतुर्य, पथ्यो राशंश सून्यं बुधाः ॥
विन्यस्ये कलशान्कृते तु नवमां-शं सप्त वृत्ते पुनः।
मध्ये च्येकमिति द्वयोऽस्तु शतयो न्यासं कुरुपंडिताः ॥ ३६ ॥

फिर क्रम से सोलह और नवे पद में आठ की गणना करनी चाहिए।
फिर चौथे पद में विद्वानों को स्थापना करना चाहिए॥
घट स्थापन करने पर बारह पर भी मन देना चाहिए।
बीच में एक घट भी रखना चाहिए पूर्वाचार्यों के कहने से दोषों की गिनती करिये॥ ३६॥

इसी प्रकार क्रमशः सोलहवें और नवें पद में आठ की संख्या होनी चाहिए। इसके ऊपर तथा चौथे पद में विद्वानों को स्थापना करनी चाहिए। कलश की स्थापना करने पर दो दश का भी ध्यान देना चाहिए। मध्य में एक घट की स्थापना करनी चाहिए। फिर पूर्वाचार्यों के अनुसार दो सौ की स्थापना करनी चाहिए॥ ३६॥

कुंभ णिक्खेव सत्त आइत्तिसु तिहि मिया वार सं च वि।
उत्तिम मज्झे एगं ख जुम्मे अहि हय कलस द्वाव णत्थं सुमुतं॥ ३७॥

वर्जित्यन्यत्यष्ट पदेषु, सप्तकलशान्वृत्तेथमध्ये।
सुधारेषां साष्ट शत् प्रमाणं, घट विन्यासे क्रमोऽयंमतः॥ ३७॥

सात कलश वृत के मध्य में रखना चाहिए।
सतक अष्ट घट का विन्यास शास्त्र सम्मत मानना चाहिए॥ ३७॥

सात कलश वृत्त के मध्य में रखने चाहिए किन्तु इस बात का ध्यान रहे कि इसमें आठ पद वर्जित हैं। एक सौ आठ प्रमाण पूर्वक इन घटों का विन्यास भी शास्त्र सम्मत माना गया है॥ ३७॥

किच्चहं जुतं-सुत्तं जलणिहि जुग दग संकखा भागा।
कुंभाणिं पंच एग दुवे णव यंसे चक्के तए य॥
णिक्खे वे अंस स जुम्मतिहिप मा गणियं अहं।
दससे मज्झेगेग घडाणं खिवित्तिहिमय जेणलक्खप्पमाणं॥ ३८॥

सूत्रोवद्वयवार्द्धि भाषित पदेष्वक्षष्व-संख्यैः कृते।
स्वल्पाद्योपरितः स विरहित हरिभावास्य युग्मे षु च॥

कुंभान्विन्येसं सप्तमादि त्रिषु च तिथिमिता द्वादशांत।
उत्तप्तमध्ये चैकं स्व युग्मेष्वभिहत कलश स्थापनार्थं संश्रुतान्॥ ३८॥

सूत्र बद्ध करते हुए क्रम से उसका कथन किया है।
दो दो की गिनती में अंशों को भाग एक में रख दिया है।
सातें बारस की तिथियों में तीन रूप में निबद्ध किया है।
ऊँची जगह के मध्य में आकर स्वर को युगल बना दिया है॥ ३८॥

सूत्रबद्ध बढ़ते हुए क्रम से इनका कथन किया गया है अर्थात् संख्या का जो क्रम बताया गया है उसी संख्या में इनको रक्खे जाने चाहिए। प्रत्येक भाग में दो दो की संख्या में घटों को रक्खा जाता है। घट के ऊपर सप्तमी आदि तिथि तथा द्वादशी तिथि के रूपों में रक्खा जाना चाहिए। ऊंचे स्थान पर मध्य में एक स्वर युग्म रूप में होना चाहिए। तदनुसार ही कलश स्थापना होनी चाहिए॥ ३८॥

तिस सुत्तेण किच्चा खस्सुसिरधरा संमिया सद्दीजुयो।
पंचकमज्झे दुविहि गिरि व कलसा अट्ठ पत्ति सुवुत्ते॥
बाहि पत्तिं दुवेविप्पाडि विदिसि घर्ड विंसइं तच्च उत्थे।
पंचेगकुंभ मंतं वसु जो तद पायतुमा कुंभ वासो॥ ३९॥

कृत्वाष्टाद्युक्त सूत्रे जलनिधि युगचोदकसंख्यात्‌भागात्।
कुंभास्तत्पंचकेत्या द्वयं नव दुतियांशे चतुष्के त्रिके च॥
न्यस्ये द्वयांशांश युग्मतिथि परिमागणितान्‌वृत्तमष्टा।
दशांशे मध्ये चैकं घटानां न्यसन्मिति मतं जैन लक्ष्मप्रमाणं॥ ३९॥

अष्ट ध्रुव सूत्र के माध्यम से जल से कलश भरा करें।
दो और नौ के साथ चार मंत्र पंचक से ध्यान रखें।
युग्म तिथि के परिणामों से क्रम से घटों का न्यास करें।
दश अंश के मध्य में एक घट का न्यास करें॥ ३९॥

इस प्रकार अष्ट ध्रुव सूत्र के अनुसार जल निधि पूर्वक अर्थात् कलश में

जल भरकर उसमें भी मंत्र पंचक पूर्वक दो, नौ आदि के साथ चार का भी ध्यान रखना चाहिए। इसी क्रम से युग्म तिथि के परिणाम पूर्वक घटों का क्रम से न्यास करना चाहिए। दश अंश के मध्य में भी एक घट का न्यास होना चाहिए। ऐसा जैन मत में भाष्य है ॥ ३९ ॥

उत्तरोतर संबुड्ढ सत्ती गुरुणिणएसियो ।
आलुच्च क्किययामेव पायच्छित्तविहिक्कमो ॥ ४० ॥

उत्तरोत्तर संवृद्धया, शक्त्या गुरु निदेशितः ।
आलोच्य क्रियतामेव, प्रायश्चित्त विधि क्रमः ॥ ४० ॥

शक्ति अनुसार, गुरु आदेश पर उत्तरोत्तर वृद्धि करें ।
आलोचना पर गुरु आदेश से, क्रम से प्रायश्चित्त विधि का पालन करें ॥

क्रमशः उत्तरोत्तर गुरुदेव के निर्देशानुसार आज्ञा प्रमाण प्रायश्चित्त विधि को बढ़ाता जाय। पुनः गुरु सानिध्य में विधिवत् निश्छल भाव से आलोचना कर प्रायश्चित्त विधि करना चाहिए ॥ ४० ॥ यदि गुरु न हो तो-

अप्पा एव गुरु किच्चा सक्खिणो दोस सुद्धिणो ।
मणोवक्काय संसुद्धए किएयव्वं पडिक्कमं ॥ ४१ ॥

आत्मादेव गुरुन् कृत्वा, साक्षिणो दोष शुद्धये ।
मनोवाक्काय संशुद्धया, क्रियेतव्यं प्रतिक्रमं ॥ ४१ ॥

गुरु व देव की साक्षी में आत्म दोषों को शुद्ध करें ।
प्रतिक्रमण के द्वारा मन, वचन, काय को शुद्ध करें ॥ ४१ ॥

अपराधी स्वयं की आत्मा को ही गुरु मान कर स्वयं की साक्षी में दोषों की शुद्धि के लिए आलोचना करे। पुनः मन, वचन, काय की शुद्धि द्वारा प्रतिक्रमण क्रिया करें ॥ ४१ ॥

जिणताणा अवज्झाणं दाणं सयय संजभो ।
वयसीला बुहिं तहा संवर णिज्जरे ॥ ४२ ॥

जिनाप्ताज्ञा जपध्यान, दामानशन संयमः ।
व्रत शीलानि वृद्धि स्यात् तथा संवर निर्जरौ ॥ ४२ ॥

जिनेन्द्र की आज्ञा से, जप, ध्यान, दान से संयम होय ।
व्रत व शील की वृद्धि से, संवर निर्जरा होय ॥ ४२ ॥

सर्वज्ञ जिनेन्द्र देव यथार्थ आप्त हैं। उनकी आज्ञा प्रमाण जप, ध्यान, दान, अनशन, संयम, व्रत, शील आदि की वृद्धि होगी और इनके द्वारा संवर एवं निर्जरा होगी ॥ ४२ ॥

भूय भव्व हवे पाव कारियाणुमयं कयं ।
चित्ताणुकपए लुत्त तं हि सुद्धि विहीयए ॥ ४३ ॥

भूत-भाव्य-भवत्-पापं, कारितानुमतं कृतं ।
चित्तानुकंपयालोच्य, तद्धि शुद्धि र्विधीयते ॥ ४३ ॥

भूत, भविष्य, वर्तमान के पापों का कृत, कारित अनुमोदन होय ।
आलोचना पर मन कम्पित न हो, तभी शुद्धि होय ॥ ४३ ॥

चित्त-मन की शुद्धि से पूर्व कृत-कारित-अनुमोदित पाप क्रियाओं, वर्तमान की व भविष्य संबंधी इसी प्रकार की क्रियाओं को अनुकंपा पूर्वक आलोचना कर आत्म शुद्धि विधान करना चाहिए। इस प्रकार पुनः पुनः आलोचना-प्रत्यालोचना का फल निम्न प्रकार होगा ॥ ४३ ॥

सव्व पाव विणिम्मुत्तिं सव्व पुण्णं च उत्तए ।
अरहच्चण सप्पत्तं दाणं सीलव्वए हवे ॥ ४४ ॥

सर्व पाप विनिर्मुक्तिः, सर्व पुण्याश्च वाप्तये ।
अर्हदर्चन-सत्पात्र, दान शील व्रतै र्भवेत् ॥ ४४ ॥

सर्व पापों से मुक्त हो, सर्व पुण्य को ग्रहण करें ।
अर्हंत अर्चना, सत्पात्र को दान, व्रत व शील को ग्रहण करें ॥ ४४ ॥

उपर्युक्त विधि से आलोचना करने से सर्व पापों का नाश होता है और पुण्य का उपचय-वृद्धि होती है। इसका हेतु अर्हद् अर्चना-पूजा, सत्पात्र दान, शील और व्रत हैं। अर्थात् जिन पूजा, उत्तम-मध्यम-जघन्य सत्पात्रों को चार प्रकार का दान देना, शीलों का पालन, व्रतों का आचरण करने से पापों का नाश और सातिशय पुण्य की वृद्धि होती है॥ ४४॥

सविदुं अरहदाणं धाणं झाणं जवं वयं।
सीलं च संजम कुज्बे पुण्णादाणेण संतए॥ ४५॥

सवित्तोऽर्हन्-महादानं, ज्ञानं-ध्यानं-जपं-व्रतं।
शीलं च संयमं कुर्यात्, पुण्यादेनः प्रशांतये॥ ४५॥

उसी प्रकार अरहंत को महादान, ज्ञान, ध्यान जप व व्रत करता है।
वही प्रशंसनीय होता है, जो शील व संयम से पुण्य करता है॥ ४५॥

समर्थ संपत्ति सम्पन्न श्रावक को यथाशक्ति विशेष रूप से जिन पूजा, दान कर तथा ज्ञान, ध्यान, जप, व्रत, शील और संयम का आचरण करें। क्योंकि पाप कर्मों की शांति के लिए यही आठ श्रावक धर्म कारण है। कारण उपर्युक्त विधि से पुण्यार्जन होगा और पाप की शांति भी होगी। अस्तु अशुभ कर्मों के फल की शांति के लिए पुण्यार्जन विधि करना चाहिए॥ ४५॥

णिव्वुत्तारह दाणं च, कारिओ णुमओ सया।
दायव्वं तं इमं कुव्वे, सुद्धज्झाणेण हि हवे॥ ४६॥

निर्वृत्ताऽर्हन् महादाने, कारितोऽनुमतः सदा।
दातव्या तच्चयं कुर्वन्, शुद्धो ध्यानादिभि भवेत्॥ ४६॥

अरहंत निर्वाण पर कृत कारित अनुमोदना से महादान को देता है।
देने वाला व लेने वाला, शुद्ध ध्यानादि रूप में होता है॥ ४६॥

जिनके पास उचित धन नहीं है, उनको महाजनों को धर्म कार्यों में प्रेरणा देकर कारित, अनुमोदना उनकी प्रशंसादि कर तथा स्वयं व्रत, शील, धारण-

पालन करना चाहिए। सुखेच्छुओं को इसी विधि से पुण्यार्जन करना चाहिए। निश्चय से कृत समान ही पुण्योपलब्धि होती है ॥ ४६ ॥

तम्हा जिणच्चणं दाणं, वयं सीलं सुहट्ठिणो ।
तओ अण्ण प संतं च, पुण्णुवज्जणं धुवं ॥ ४७ ॥

तस्माज्जिनार्चनं दानं, व्रतं शीलं सुखार्थिनां ।
ततोऽन्येन प्रशांचिशत, सु-पुण्योपार्जनं ध्रुवं ॥ ४७ ॥

उन जिनेन्द्र की अर्चना, दान, व्रत व शील सुख को देते हैं ।
अन्य जगह भी शान्ति बढ़ाकर पुण्य को बढ़ाते हैं ॥ ४७ ॥

सुखेच्छुओं को शांति प्राप्त करने के लिए जिनेन्द्र प्रभु की पूजा, दान, व्रत, शीलादि का सम्यक् आचरण करें, जिससे निश्चय से सातिशय पुण्य प्राप्त होता है ॥ ४७ ॥

सुकिज्ज काय संचारं, दंड भंगप्पभाअओ ।
णायारहंपडिं विंबं, दोस शुद्धिंचविज्जए ॥ ४८ ॥

स्वकीय काय संचारा-दंगभंगे प्रमादतः ।
ज्ञातोऽर्हत् प्रतिबिंबस्य, दोषशुद्धिर्विधीयते ॥ ४८ ॥

अपने शरीर के प्रमाद से, जब अरहंत का अंग-भंग करें ।
दोषों को अपने जानकर, शीघ्र इसकी शुद्धि करें ॥ ४८ ॥

यदि प्रमादवश-अज्ञातदशा में अपनी काय चेष्टा के विपरीत होने से अर्हत् बिंब (प्रतिमाजी) का कोई अंग या उपांग भंग हो गया हो तो अवगत होते ही उसकी शुद्धि का शीघ्र ही विधान करना चाहिए। आगे उसकी शुद्धि का विधान आचार्य देव कहेंगे ॥ ४८ ॥

रयण लोह सिलं च, धाउ-वज्जं च पज्जए ।
पडिमं सव्व हुं ठावे, तारिक्खं वाय मुच्चरे ॥ ४९ ॥

रत्नलौह-शिला धातु, वज्र संपादितासु या ।

प्रतिमा[illegible]-थाला, तादृशी [illegible]स्मरेत् ॥ ४९ ॥

रत्न लोह की शिला पर, चित्र लेप जब होय ।

प्रतिमा अरहंत की, जैसी कहियो लोय ॥ ४९ ॥

खण्डित होने वाली प्रतिमा रत्न, लौह, शिला (पाषाण) चित्र लेपादि की जैसी है, अन्य जिनबिंब शिल्पी-जो प्रतिमा निर्माण का ज्ञाता है, उसी प्रमाण की निर्माण करें। अर्थात् करावे ऐसा आगम का कथन है ॥ ४९ ॥

पुव्ववं पूयणं जाव पडिमा हि हवेस्सए ।

दुज्झरं - व्वय संजुत्ता, तावक्कारइ सं लहू ॥ ५० ॥

पूर्ववत् पूजनं यावत्, प्रतिमा च भविष्यति ।

दुर्द्धर व्रत संयुक्ताः, तावत्कारयेत् लघु ॥ ५० ॥

पहले पूजन अरहंत की, करते आये होय ।

कठोर व्रत को सरल कर, पूजन करियों सोय ॥ ५० ॥

जब तक तदनुसार नवीन प्रतिमा तैयार नहीं होगी, तब तक कठिन व्रत लघुमास तप करें। नियम लेकर भक्ति से पूर्व के समान ही पूजाभक्ति करें। तथा शीघ्र बिम्ब तैयार कराने का प्रयत्न करें। वर्षा तीन, शीतकाल के दो और ग्रीष्म का एक उपवास करना लघु मास तप है ॥ ५० ॥

सिला रयण बिंबं च, जया हवइ सुक्कयं ।

तमेव पादं सुसोम्मं, दिढ सुंदेर संजुयं ॥ ५१ ॥

शिलारत्नमयं बिंबं, यदा भवेत् सुकृतं ।

तदैवायादयत सौम्यं, दृढौ सौंदर्य संयुतं ॥ ५१ ॥

रत्न जड़ित मूर्ति बने, श्री जिनेन्द्र भगवान ।

फिर उनके सौन्दर्य का, खूब करो गुणगान ॥ ५१ ॥

जिस समय शिला या रत्नमयी तदनुसार जिनबिंब बन जाय तो उसी समय

उन दोनों की दृढ़ता, सुंदरता अर्थात् सौम्यता का वीक्षण परीक्षा करें। मिलान कर लें ॥ ५१ ॥ तथा-

पडिट्ठावं सया पण्णा, जहा पोम्माणुवं चरे।
सव्व सुद्धि महण्हाणं, कल्लाणेस्त तवेण हि ॥ ५२ ॥

प्रतिष्ठाप्य सदा-प्राज्ञाः, यथा पाद्मानुवतं चरेत्।
सर्व विशुद्धि महास्नानं, कल्याण तपसा सहः ॥ ५२ ॥

श्री गुरु के चरण न नमें, जो होवे बुद्धिमान।
उसकी शुद्धि के लिए, करो शीघ्र स्नान ॥ ५२ ॥

विधिवत् प्रतिष्ठा कराकर स्थापित कर सतत बुद्धिमान गर्भ, जन्म तथा तपादि कल्याणकों को करें या करावे तथा सर्व शुद्धि से महामस्तकाभिषेक करें। तथा कल्याण नामक तप भी करें - एक निर्विकृति, एक पुरुमण्डल, एक-एक स्थान, एक आचाम्ल और एक क्षमण को कल्याण तप कहते हैं। नीरस भोजन को निर्विकृति कहते हैं। अनगार (मुनि) की भोजनबेला (समय) को पुरुमण्डल कहते हैं। एक ही स्थान में स्थिर रहकर भोजन करने को एक स्थान कहते हैं। अर्थात् तीन मुहूर्त काल पर्यंत निश्चल रहकर भोजन करना। कांजी आहार आचाम्ल है। एक उपवास को क्षमण कहते हैं ॥ ५२ ॥

भजे पंच णमुक्कारं, सहस्स दस संखगं।
चाउवण्णस्स पत्तस्स, दाण-सय मुदं हदे ॥ ५३ ॥

जपेन्पंच नमस्कारं, सहस्रदश संख्यकं।
चातुवर्णाय पात्राय, दानं शतमुदा हृतं ॥ ५३ ॥

णमोकार के मंत्र को, जपे जो सहस्र दश बार।
चार वर्ण को दान दो, मुट्ठी बांधे सौ बार ॥ ५३ ॥

जिससे प्रतिमा भंग हुई थी वह पुनः दश हजार संख्या प्रमाण महामंत्र णमोकार का सानंद भक्ति से जाप करें। चारों वर्णों के पात्रों को मुनि-आर्यिका-श्रावक-

श्राविकाओं को सौ बार प्रसन्नता से दान दें। अथवा चारों वर्णों के ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रों को एक सौ संख्या में दान देवें। यथाशक्ति भोजनादि करावें ॥ ५३ ॥

सिविणे हि पमायाओ, मूलव्वय परिच्चया।
सव्व सुद्धि महण्हाणं, तवो वल्ली तवं चरे ॥ ५४ ॥

स्वप्ने प्रमादतोऽथवा, मूलव्रत परिच्युतौ।
सर्व शुद्धिमहास्नानं, तपोवल्ली तपश्चरेत् ॥ ५४ ॥

प्रमाद से स्वप्न में, जब मूल व्रत छूट जाय।
महा स्नान से शुद्धि कर, तपो बल्ली तप होय ॥ ५४ ॥

स्वप्न में अथवा प्रमाद से पाप का मूल रूप यदि व्रत का समूल नाश हो गया हो, अर्थात् सर्वथा व्रत च्युति हो जाय तो उसकी पूर्ण महामस्तकाभिषेक करे। एवं यथा शक्ति अनशनादि तपाचरण कर शुद्धि करें। तथा उपर्युक्त निरंतर लघु तपाचरण करें ॥ ५४ ॥

णाणज्झाणाहि जुत्तं, पडिहं संजपे पदं।
सहस्स पत्त दाणं च, जहा सत्तिं वितण्णए ॥ ५५ ॥

ज्ञानध्यानाभिर्युक्तं, प्रत्यहं संजपेत्पदं।
सहस्रं पात्रदानं च, यथाशक्ति वितन्यते ॥ ५५ ॥

ज्ञान, ध्यानादि युक्त, अच्छे से जप जब होय।
तब शक्तिनुसार, दान हजार पात्र को देय ॥ ५५ ॥

प्रतिदिन ज्ञान ध्यानादि से संयुक्त रहकर शुद्धि करें। साथ ही यथाशक्ति एक हजार पात्रों को यथायोग्य, यथोचित दान प्रदान करें ॥ ५५ ॥

पव्व अणसणं किच्चा वागवत्तं दिवंतरे।
केवल भेग सिद्धेव कालाइक्कमाणसणं ॥ ५६ ॥

पर्वण्यनशनं कृत्वा, या वागृवत्तं दिवान्तरे।
केवलान्नेक सिद्धेव, कालतिक्रमणाशनं ॥ ५६ ॥

पर्व में उपवास कर, दिन के अन्तर से सोय ।

केवल एक ही, अन्न का अशन करो सब लोय ॥ ५६ ॥

प्रत्येक पर्व-अष्टमी-चतुर्दशी को उपवास करें । अथवा एक दिन रात्रि के अनंतर उपवास करें । अथवा समय की गति के अनुसार अनेक उपवास करना चाहिए ॥ ५६ ॥

अंतिमं अणसणं उत्तं कल्लाणं दोस उत्तमं ।

पंचवारं जहा कुती पंच कल्लाण संभजे ॥ ५७ ॥

अन्त्येचानशनं प्रोक्तं, कल्याणं दोषओत्तमं ।

पंचवारं यथावृत्तिः, पंचकल्याणं नाम भाक् ॥ ५७ ॥

श्रेष्ठ है कल्याण दोष के लिए, जब उपवास होय ।

पंच बार प्रवृत्ति करे, तब पंचकल्याणक होय ॥ ५७ ॥

पूर्ण विधिवत् उपवासादि हो जाने पर अंत में एक कल्याण तपाचरण करें । दोष की निवृत्ति के लिए । इसे पांच बार इस प्रकार करने पर पांच कल्याणं नाम प्रायश्चित्त पूर्ण होता है । अर्थात् पांच आचाम्ल, पांच निर्विकृति, पांच पुरु मंडल, पांच एक स्थान, और पांच उपवास व्यवधान रहित करना पंच कल्याण कहलाता है । सभी की परिभाषा पूर्व में आ चुकी है ॥ ५७ ॥

पढमणसणं भावं अवमोदरियं जुयं ।

वितिसंखार सच्चाग विवित्त सयणासणं ॥ ५८ ॥

आदावनशनं तद्व,-दवमौदर्यमन्वतः ।

वृत्तिसंख्या रसत्याग, विविक्त शयनासनं ॥ ५८ ॥

प्रारम्भ में उपवास कर, फिर अवमौदर्य करे ।

क्रम से रस का त्याग, विविक्तशयनासनं करे ॥ ५८ ॥

प्रारंभ में उपवास पुनः क्रमशः अवमौदर्य करे, वृत्ति परिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन तप करें ॥ ५८ ॥ इस प्रकार-

तवोवल्ली तवप्पाहू एगंव अणुवित्तणो ।
चउपंचाणु वित्ती उत्तं आदि विभाग ए ।। ५९ ।।

तपोवल्ली तपः प्राहु-रेकाद्वि अनुवृत्तितः ।
चतुः पंचानुवृत्ति स्या-, दुत्तमादि विभागभाक् ।। ५९ ।।

प्रारम्भ में तपो बल्ली तप, जब एक-दो बार अनवरत होय ।
तब उत्तमादिक का विभाग कर, चार-पांच की प्रवृत्ति होय ।। ५९ ।।

दो, तीन बार क्रमशः तप करना अथवा अनुक्रमण से चार, पाँच आदि तपों का करना तपवल्ली तप कहलाता है। अर्थात् आनुपूर्वी क्रम से तपाचरण करना तपवल्ली तप है ।। ५९ ।।

मासे मासे चउपव्वे उववासं च संजुयं ।
जिण आणा जवज्झाणो तत अगधि समं च ए ।। ६० ।।

मासे मासे चतुर्पर्वे,-सूपवास समन्वितः ।
जिनाप्ताज्ञा जप ध्यानो, तपवत्पाप वर्जितः ।। ६० ।।

एक-एक महीने के चार पर्व में, समान रूप से उपवास करें ।
जिनेन्द्र आज्ञानुसार, तप, ध्यान जप से पाप को दूर करें ।। ६० ।।

पाप वृत्ति से रहित जिनेन्द्र भगवन्त आप्त की आज्ञानुसार प्रत्येक मास-महीने में हर एक पर्व दिनों में अर्थात् अष्टमी चतुर्दशी को अनशन-उपवास करना चाहिए ।। ६० ।।

णिच्चं तिह्णाणं संतत, कए पहिग सुद्धिगो ।
तिक्काल विहिए थोए, पूयादाणं सया सुई ।। ६१ ।।

नित्यं त्रिस्नानं संतप्त, कृतेर्यापथशुद्धिकः ।
त्रिकालविहिते स्तोत्रे, पूजादान सदाशुचि ।। ६१ ।।

नित्य तीन बार स्नान से, मारग शुद्धि होय ।
तीनों काल में स्तुति, पजा दान से शुद्धि हमेशा होय ।। ६१ ।।

तीनों संध्याओं में शुद्ध जल से स्नान कर शुद्ध हुआ ईर्यापथ शुद्धि से गमन कर आगमानुसार विधि से जिन स्तवन, पूजा और दान करें। श्रावक को निरंतर, सदैव इस प्रकार का अनुष्ठान प्रतिदिन करना चाहिए॥ ६१ ॥

तवच्चंदायणं तवं, रयणावलि मुत्तं च।
जिणाणं गुण संपत्तिं, तवं आयार-वड्ढणं ॥ ६२ ॥

तपश्चांद्रायणं रत्नावली-, मुक्तावलि-तपः।
जिनानां गुणसंपत्ति,-स्तपं आचर वर्द्धनं ॥ ६२ ॥

व्रत चन्द्रायण, रत्नावली, मुक्तावली जब होय।
जिन गुण सम्पत्ति करने से, चारित्र शुद्धि होय ॥ ६२ ॥

श्रावकों को आचार शुद्धि की वृद्धि के लिए विविध तप करना चाहिए। वे तप हैं - चांद्रायण, रत्नावली, मुक्तावली, जिनगुण संपत्ति आदि व्रताचरण रूप तप करना चाहिए॥ ६२ ॥ तथा-

एगंयरं तिरत्तिं च, महाकल्लाणा णामगं।
अट्ठ पक्खुववासं च, सत्तीए तव तप्पए॥ ६३ ॥

एकांतरं त्रिरात्रं च, महाकल्याण नामकं।
अष्ट पक्षोपवासादि, तपं शक्त्या सुतप्यते ॥ ६३ ॥

एक के अन्तर में, तीन रात्रि तक महाकल्याणक होय।
आठों पक्ष शक्तिनुसार उपवास करें, तभी तपस्या होय ॥ ६३ ॥

एकांतर-एक दिन छोड़कर उपवास, अर्थात् एक उपवास एक पारणा पुनः उपवास फिर पारणा यह एकांतर है, दो उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, आठ उपवास एक पारणा, पंद्रह दिन का उपवासादि महाकल्याण नामकादि तपों को यथा शक्ति तपना चाहिए॥ ६३ ॥

तेसि आयरणं सव्वं, उक्तं य परमागमे।
तेणि विहि उवाएणं कायव्वं च स सत्तिणो ॥ ६४ ॥

तेषामाचरणं सर्वं, प्रोक्तं च परमागमे।
तद्विधिनोपदेशेन, तत्कर्त्तव्यं स्वशक्तितः ॥ ६४ ॥

आगम के अनुसार, पंडित कहते सोय।
अपनी शक्ति देखकर, पालन करियों सोय ॥ ६४ ॥

उपर्युक्त व्रतों की विधि, स्वरूप, परमागम में निरूपित है, आगमज्ञ-आगम के ज्ञाता आचार्यादि से सम्यक् प्रकार ज्ञात करना चाहिए तथा तदनुसार अपनी शक्ति प्रमाण उन का आचरण करना चाहिए ॥ ६४ ॥

वे इंदिय वए आए, पमाओ अवि कम्मुणा।
एग पोसह संजुत्ता सय मंतं च आचरे ॥ ६५ ॥

द्वीन्द्रियस्यवधे जाते, प्रमादाश्चेत् कर्मणा।
एक प्रोषध संयुक्ताः, शतमंत्रं चरेत् ॥ ६५ ॥

प्रमाद के वश होयकर, दो इन्द्रिय वध होय।
विधि से एक प्रोषध, सहस्त्र मंत्र जप होत ॥ ६५ ॥

षट् कर्मों के संपादन में प्रमादवश यदि द्विन्द्रिय जीव का घात हो जाय तो उसकी शुद्धि का प्रायश्चित्त एक प्रोषध एक भुक्ति करे और सौ महामंत्र का जप भी करें ॥ ६५ ॥

तंति इंदिय मेव हि तमेव चउरिदयं।
एग वे ति चउत्थं च कुब्वे पावं पसंतए ॥ ६६ ॥

तद्वयं त्रीन्द्रिये प्रोक्तं, तद्वयं चतुरिन्द्रिये।
एक द्वि-त्रि-चतुर्थं च, कुर्यात्पापं प्रशांतये ॥ ६६ ॥

जो विधि दो और तीन इन्द्रियों की, वही चौथी की होय।
इन चारों इन्द्रियों को वश करें, तभी पाप नष्ट होय ॥ ६६ ॥

उपर्युक्त विधिवत् तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीव का यदि प्रमादवश घात वध हो जाय तो उससे उत्पन्न पाप की शांति के लिए दो व तीन प्रोषध दो सौ व तीन सौ मंत्र जप करना चाहिए ॥ ६६ ॥

पंचिदिंयमेव सण्णं पमाआओ ण हिंसए।
कल्लाण विहिणा मंतं सहस्स दसगं भजे ॥ ६७ ॥

पंचेन्द्रियमेव संज्ञस्य, प्रमाद्धिंसने सति।
कल्याणविधिनामंत्रं, सहस्रदशकं जपेत् ॥ ६७ ॥

आलस करने पर, संज्ञी पंच इन्द्रिय की होती है।
उसके पाप निवारण को, दस सहस्त्र जाप विधि होती है ॥ ६७ ॥

प्रमादवश पंचेन्द्रिय असंज्ञी व संज्ञी जीव का घात होने पर अर्थात् मन सहित संज्ञी और मन रहित असंज्ञी पंचेन्द्रिय का असावधानी (प्रमाद) से घात हो जाय तो उसका प्रायश्चित्त एक कल्याण और विधिवत् दश हजार महामंत्र का जप करना चाहिए ॥ ६७ ॥ तथा-

सव्वं सुद्धि महह्णाणं काउस्सगं दसं वि हि।
सत्तीए पदायव्वं दाणं णाणं च झाणं च ॥ ६८ ॥

सर्व शुद्धि महास्नानं, कायोत्सर्गं दशापि च।
दानं शक्त्या प्रदातव्यं, ज्ञानं ध्यानं कृतादरः ॥ ६८ ॥

सर्व शुद्धि महास्नान से, कायोत्सर्ग करें।
दान शक्तिनुसार दे, तब ज्ञान, ध्यान करें ॥ ६८ ॥

पूर्ण शुद्ध्यर्थ - पूर्ण शुद्धि से महामस्तकाभिषेक, दश कायोत्सर्ग तथा शक्ति अनुसार दान देना चाहिए एवं सावधानी से निष्प्रमादी हो - आदर से ज्ञानाराधन व ध्यान भी करना चाहिए ॥ ६८ ॥

सण्णी पंचिदियं जाणे, दुगुणं च विहिं चरे।
उववासत्तयं पुव्वं, अहिसेगं तहा वयं ॥ ६९ ॥

संज्ञी पंचेंद्रिये प्रोक्तं, द्विगुणं विधिमाचरेत्।
उपवासं त्रयं वा-स्या, दभिषेकं द्वयं तथा ॥ ६९ ॥

संज्ञी पंचेन्द्रिय के, दो गुणों से विधि का आचरण करें।
तीन उपवास कर, दो बार अभिषेक करें ॥ ६९ ॥

संज्ञी पंचेन्द्रिय के घात होने पर उपर्युक्त विधि से द्विगुणित दूना प्रायश्चित्त है, तथा तीन उपवास और दो महामस्तकाभिषेक भी करें ॥ ६९ ॥

अपवित्तो पवित्तो वा, सव्वावद्धं मओ वि वा।
जो सरेज्ज सु अप्पाणं, बहि आंब्भेतरं सुई ॥ ७० ॥

अपवित्रः पवित्रो वा, सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत् सकलात्मानं, सः बाह्याभ्यंतरे शुचि ॥ ७० ॥

अपवित्र व पवित्र स्थान, जब जल छांटकर पवित्र होय।
तब अरहंत स्मरण से बाह्य व अन्तर मन पवित्र होय ॥ ७० ॥

पवित्र दशा हो या अपवित्र अवस्था हो, जो व्यक्ति प्रत्येक अवस्था में श्रद्धा पूर्वक अर्हत् वाचक महामंत्र का स्मरण करता है वह बाह्य और अभ्यंतर-उभय शुद्धि का पात्र हो जाता है ॥ ७० ॥

भोत्तुं अणसणाओ हि, विवज्जेज्ज हि अंग च।
तं अण्णं परिहायव्वं, अण्णण्णं च समाहरे ॥ ७१ ॥

भोक्तव्यानशनात्पूर्वं, व्युत्सजं त्वंग वीक्षये।
तदन्नंपरिहर्त्तव्यं, मन्यदन्नं समाहरेत् ॥ ७१ ॥

पूर्व में उपवास कर, फिर भोजन करना।
फिर भोजन परिहार कर, अन्य जगह भी नहीं खाना ॥ ७१ ॥

भोजन प्रारंभ करने के पूर्व ही यदि कोई मृत जीव का कलेवर दृष्टिगत हो जाय तो उस अन्न को त्याग कर अन्य भोजन करना चाहिए ॥ ७१ ॥

वित्तासणं च भुत्तिं च, तम्हिं अट्ठ परिण्वजे।
सव्व दोसं च संतुट्ठ दिण दिणेसु वितणे ॥ ७२ ॥

वृत्ताशनं मुक्तौ च, तस्मिन्नष्ट परित्यजेत्।
समृतं दोष शांत्यर्थं, तद्दिनेषु वितन्यते ॥ ७२ ॥

भोजन व उपवास इस प्रवृत्ति से कर, नश्वर शरीर का त्याग करें।
उन दिनों में ऐसा कर, वे अपने मृत्यु दोष को शांत करें ॥ ७२ ॥

भोजन करना प्रारंभ करने पर उसमें प्राणी कलेवर दृष्टिगत होने पर उस दिन भोजन का परित्याग करना चाहिए ॥ ७२ ॥

भोयणा वास गेहे वि, विड मुत्त विण चम्मं।
दुट्ठेज्ज अइ गंधं च, तत्थ भुत्तिणि सेज्जेज्जं ॥ ७३ ॥

भोजनावास-गेहेऽस्थि, व्रण-विट्-मूत्रचर्मणि।
दुष्टे वातीव दुर्गंधं, तत्रभुक्तिर्निषिध्यते ॥ ७३ ॥

हड्डी, मूत्र, चर्म आहार में दृष्टि पड़े तब जोय।
अन्तराय तब ही करे, निर्विकल्प अवस्था होय ॥ ७३ ॥

भोजनशाला-रसोई घर में यदि अस्थि-हड्डी, पीव, राध, मल, मूत्र, चर्म (चमड़ा) आदि दृष्टिगत हो, अथवा अत्यन्त दुर्गंधित हो वहां भोजन करना निषिद्ध है। अर्थात् उपर्युक्त कारणों से अपवित्र स्थान में भोजन नहीं करना चाहिए ॥ ७३ ॥

अप्फासं च विलोमं च, तं वचं सुइ गोयरे।
भोयणं परिहाएव्वं, दुव्वचं सवणं अवि ॥ ७४ ॥

अस्पृश्यं विलोकेऽपि, तद्वचः श्रुतिगोचरे।
भोजनं परिहर्तव्यं, दुर्वचः श्रवणेऽपि च ॥ ७४ ॥

छूने योग्य न वस्तु को, बोलन, देखन, सुनजान।
फिर भोजन को त्याग कर, कहा जिनेन्द्र भगवान ॥ ७४ ॥

अस्पृश्य-चाण्डालादि के देखने पर उनका वचन सुनने पर तथा मार, काट आदि कटु, कठोर वचन सुनने पर भोजन का त्याग कर देना चाहिए ॥ ७४ ॥

जंतू पदव संप्तिट्ठिं, मज्जार आइ दीवणं।
पतंग पउणं जायं, भोयणं परिवज्जए ॥ ७५ ॥

जंतूपद्रव संदृष्टौ, मार्जाकादौ प्रदीपतः।
पतंगपतने जाते, भोजनं त्यज्यते बुधैः ॥ ७५ ॥

जीव के द्वारा उपद्रव कर, बिल्ली दीपक व पतंग के पड़ने पर।
बुद्धिमान वही होता है, जो भोजन त्याग दे इनके होने पर ॥ ७५ ॥

उपद्रवकारी चूहादि प्राणियों के विडाल-बिल्ली आदि के द्वारा पकड़ने, घात करने पर अथवा प्रदीपादि से आकृष्ट पतंगादि के मर जाने पर विद्वानों को भोजन का त्याग कर देना चाहिए ॥ ७५ ॥

भोयणिज्जासणं सुत्तं, णह केसावलोयणं।
कणी तंतु तुसारं च, दिट्ठिं भुत्ति य वज्जेज्ज ॥ ७६ ॥

भोजनीयाशने-शुक्ति, नख केशाऽवलोकने।
कणी तंतु तुषामिश्रे दृष्टे भुक्ति परित्यजेत् ॥ ७६ ॥

नख, केश अरु सीप को, आदि वस्तु जो होय।
इनके दिखने पर करो, अन्तराय मुनि लोय ॥ ७६ ॥

भोजक-भोजन करने वाला यदि भोज्य पदार्थ में शुक्ति सीप, नख (नाखून), केश (बाल), अपक्व कण, सूत का धागा (रेशा) तुषादि मिश्रित देखने पर भोजन त्यागना चाहिए। अर्थात् अंतराय करें ॥ ७६ ॥

भुत्तिं कालप्पदीवस्स, णासे चत्तट्ठ मिस्सणे।
अण्णस्सिंलोग णिंदं च, दिट्ठिं भुत्तिं च वज्जेज्ज ॥ ७७ ॥

भुक्ति काले प्रदीपस्य, नाशेत्यक्तार्थ मिश्रणे।
अन्यस्मिन् लोक निंद्येऽपि, दृष्टे भुक्ति परित्यजेत् ॥ ७७ ॥

दिन रात्रि का मिलन हो, फिर भोजन नहीं करना।
निंदनीय यह काम है, सर्व बन्धु का यह कहना ॥ ७७ ॥

भोजन करते समय दीपक बुझ जाय अथवा अन्य भी लोकनिंद्य पदार्थ पके भोजन में दृष्टिगत हो तो उसी समय भोजन का त्याग कर देना चाहिए ॥ ७७ ॥

भुत्तंतरं विहिं वुच्चे, परमागम सुत्तओ।
तेण विहि उवाएणं, सत्तीए अणुठावए ॥ ७८ ॥

भुक्त्यंतर विधि प्रोक्तः, परमाचार सूत्रतः।
तद्विधिज्ञोपदेशेन, शक्त्यानुष्ठीयते परं ॥ ७८ ॥

भोजन सम्बन्धित, जो विधि कही, वही परम सूत्र है।
इस विधि अनुसार, यथा शक्ति अनुष्ठान करें ॥ ७८ ॥

भोजन करते समय व उसके अनंतर की जो जो विधि विधि के ज्ञाता के उपदेश द्वारा अपनी शक्ति के अनुसार अनुष्ठान करने चाहिए ॥ ७८ ॥

अच्छाइयम मिस्सिगं जइ भुंजे पमाअओ।
तक्खणे समधीरं कुव्वे ठाणं तयं पुरा ॥ ७९ ॥

अच्छादिमिश्रितमादौ, यदि भुक्ते प्रमादतः।
तत्क्षणे समुद्धीर्यं, कुर्यात्स्नानं त्रयं पुरा ॥ ७९ ॥

किसी प्रकार अच्छादि या प्रमाद होने से अशुद्ध अवस्था होय।
तब तुरन्त ही तीन बार स्नान कर शुद्ध अवस्था होय ॥ ७९ ॥

यदि भोज्य वस्तु सचित्त (जीवादि) मिश्रित हो और प्रमादवश प्रथम देखने में न आवे अर्थात् इंद्रिय गोचर न हो सकी और खाने में आ गई, पुनः ज्ञात होने पर भोजन त्याग करे। और स्नान करे। या अस्पृश्य से छुआ हो तो स्नान करें ॥ ७९ ॥

थालिं अण्णं च सुवुत्ता अट्टि सव्वं परिव्वए।
कंस कारेण कंसाइं भस्स अग्नि पसोहेज्ज ॥ ८० ॥

स्थालीं तदन्न संवृत्ता, मार्तिं सर्वां परित्यजेत्।
कंसकारेण कंसादि, भस्माग्निभ्यां च शोधयेत् ॥ ८० ॥

अन्न थाली का रजस्वला का उसका पूरा त्याग करे।
उस बर्तन को मांज राख से अग्नि से उसे शुद्ध करें ॥ ८० ॥

यदि अति-[illegible] से थाली में परोसा अन्न है तो उसे पूर्णतः त्याग करें - छोड़ दें और बर्तन की भी राख-भस्म से मांजकर अग्नि संस्कार द्वारा शुद्धि करना चाहिए ॥ ८० ॥

आलोयणं गु संघे तव वल्लिं तवच्चरे ।
वितणेज्ज तवं पंच सहस्स दोस संत ए ॥ ८१ ॥

आलोच्यादौ गुरुं श्रित्वा, तपोवल्ली तपश्चरन् ।
वितनोतु तपं पंच, सहस्रं दोष शांतये ॥ ८१ ॥

आलोचना गुरु के समक्ष या तपस्या में कोई गल्ती होय ।
इसको दोषों की शांति हेतु, ५००० जप होय ॥ ८१ ॥

प्रथम श्री गुरुदेव के सानिध्य-समीप जाकर सविनय दोष निरूपण कर आलोचना करें। पुनः उनकी आज्ञानुसार तपोवल्ली तप का आचरण करता हुआ दोष की शांति के लिए पांच हजार महामंत्र णमोकार का जाप करें ॥ ८१ ॥

अज्झवसाय पुव्वं च उववासं सया कुणे ।
विहिणा तव सग्गं च दसविह जवं जवे ॥ ८२ ॥

व्यवधायाऽशनेनाऽथ, उपवासतनोतुराः ।
विधनां च तनुसर्गान्, दशोक्त जप संयुतः ॥ ८२ ॥

जब उपवासादि से किसी प्रकार का व्यवधान होता है ।
इनके दोषों की शुद्धि हेतु एक हजार जाप होता है ॥ ८२ ॥

क्षुधादि पीड़ा वशात् यदि अभक्ष्य या अयोग्य भोजन प्रमाद से हो जाय तो उसकी शुद्धि को उपवास करें और दश कायोत्सर्ग एवं जप भी करें ॥ ८२ ॥

पायच्छित्तं अहिसेगं पत्तदाणं च सत्तीए ।
पालेज्ज धम्म संवेग सुद्धिं वजेज्ज धुव्वं च ॥ ८३ ॥

प्रायश्चित्ताऽभिषेकं च, पात्रदानं स्वशक्तितः ।
तनुतां धर्म संवेगा,-च्छुद्धिं व्रजति ध्रुवं ॥ ८३ ॥

जब प्रायश्चित्त, अभिषेक, पात्रदानादि अपनी शक्तिनुसार होय।
तब अपनी धर्म, संवेग व बुद्धि में वृद्धि होय ॥ ८३ ॥

धर्म भीरु धर्म रक्षार्थ अपनी शक्ति अनुसार श्री जिनाभिषेक और पात्रदान करे तो निश्चय ही पाप अर्थात् दोष की शुद्धि होती है ॥ ८३ ॥

ति सं झं गणभूमंतं किच्चा पंच सया भजे।
पाव अपाय सेयाओ लहे अत्थण संसयों ॥ ८४ ॥

त्रिसंध्यंगणमृन्मंत्रं, पंचकृत्वासदा जपेत्।
पापाऽपापं सु श्रेयाद्भिः, लभतेनाऽत्रसंशयः ॥ ८४ ॥

प्रायश्चित्त तप काल में कोई दोष होता है।
गणधर मंत्र का जाप करने से सब दोष दूर होते हैं ॥ ८४ ॥

जो श्रावक तीनों संध्यायों में गणधर मंत्रों को और पंच परमेष्ठी वाचक मंत्रों को हमेशा जाप करता है वह पाप से छूटता और मोक्षमार्ग को प्राप्त होता है। इसमें कोई संदेह नहीं है ॥ ८४ ॥

णिच्च सामाइगायार पत्तदाण कियादरं।
गिह वता खए पावं सुमण्वो खलु उच्चए ॥ ८५ ॥

नित्य सामायिकाचारः, पात्रदाने कृतादरः।
गृहवार्ता त्रितात्पापान्, सभव्योमुच्यते खलु ॥ ८५ ॥

तीनों समय पंच नमस्कार के जाप से, समस्त पाप नाश होय।
इसमें कोई संशय नहीं कि, शुभास्रव भी होय ॥ ८५ ॥

जो श्रावक आदर से तीनों संध्यायों - प्रातः, मध्यान्ह, सायं काल सामायिक करता है तथा श्रद्धा भक्ति से चारों प्रकार का पात्र दान करता है वह निश्चय से गृह कार्यों में पंचसूना दोष होते हैं उनसे छूट जाता है। अर्थात् उन दोषों की निवृत्ति हो जाती है ॥ ८५ ॥

एग सित्थ अमोदरिं एग असण भावणं ।
भजे अट्ठ सयं णिट्ठो उववासं च साहू हि ॥ ८६ ॥

एकसिक्थावमौदर्या, धोत्वन्सुतप: सुधी: ।
जपेत् साष्ट शतेनिष्टो, याति साधूपवासितम् ॥ ८६ ॥

तीन काल सामायिक करें, फिर सुपात्र को दान ।
गृह की पाप कृत बात को, मन, वच, तन से त्याग ॥ ८६ ॥

एक चावल-भात का कण त्याग से अवमौदर्य तप को बढ़ाता हुआ सम्यक् तप करने वाला बुद्धिमान उपवास और एक सौ आठ जप करता है वही महानुभाव है । अर्थात् श्रेष्ठ श्रावक है ॥ ८६ ॥

सूयगे मलिणे जाए दव्व भाव णराणं च ।
तत्तो जाएज्ज चारित्ते मलिणे सयमेव हि ॥ ८७ ॥

सूतकान्मलिनौ पातौ द्रव्यभावौ नृणामिह ।
ततोहि धर्म चारित्रे मलिने भवत: स्वयं ॥ ८७ ॥

बुद्धिमान एक अवमौदर्य छोड़कर, तन-मन से अच्छा तप करें ।
निष्ठा के साथ १०८ बार जाप कर, फिर साधू लोग उपवास करें ॥ ८७ ॥

इस संसार में मनुष्यों के द्रव्य और भाव दोनों ही सूतक से मलिन हो जाते हैं, तथा द्रव्य व भाव के मलिन होने से धर्म और चारित्र स्वयं मलिन हो जाता है ॥ ८७ ॥

सूयगाचरणे णत्थि दव्व सुद्धी पजायए ।
तओ भाव विसुद्धि च जाए वित्ति सुणिम्मलं ॥ ८८ ॥

सूतकाचरणे नात्र द्रव्य शुद्धि: प्रजायते ।
ततो भाव विशुद्धि: स्यात्ततो वृत्तं सुनिर्मलं ॥ ८८ ॥

विद्वान जिनेन्द्र की स्मृति, भक्ति कर, पात्र दान से प्रसन्न होय ।
प्राण जाये पर वे पुन:, अपने पापों की ओर न जाय ॥ ८८ ॥

अतएव सूतक पातक मानने से द्रव्य शुद्धि होती है, द्रव्य शुद्धि होने से भाव शुद्धि होती है और भाव शुद्धि होने से चारित्र निर्मल होता है ॥ ८८ ॥

णराणं सूभगं सव्वं राग द्दोसग कारणं ।
जाएज्जए हि तेणं च हरिस सोग हिंसगं ॥ ८९ ॥

नराणां सूतकं रागद्वेष्योर्मूल कारणं ।
ताभ्यामत्र प्रजायेते हर्षशोकौ स्व हिंसकौ ॥ ८९ ॥

शास्त्र विषै प्रायश्चित्त के, सूक्त बताये होय ।
वही विधि उसग कही, जानी के मन छोड़ ॥ ८९ ॥

इस जगत में मनुष्यों का सूतक रागद्वेष का मूल कारण है, तथा राग द्वेष से अपने आत्मा की हिंसा करने वाले हर्ष और शोक प्रगट होते हैं। मनुष्य जन्म में भी धर्म की स्थिति शरीर के आश्रित है। इसलिए मनुष्यों के शरीर की शुद्धि होने से सम्यग्दर्शन और व्रतों की शुद्धि करने वाली धर्म की शुद्धि होती है ॥ ८९ ॥

अद्दवं रोद्दगं चेव मइ धायं च जाएज्ज ।
असुइं च अणिछं च सुव्वय कारगं खाए ॥ ९० ॥

आर्तवं सौतिकं चैव मार्त्यवं तत्सुसंगमः ।
अशौचं कथितं देवैः द्विजानां सुव्रतात्मनां ॥ ९० ॥

तीनों संध्याओं में मन, भक्ति से नमन कर,
पांचो गुरुओं को इसी विधि से नमस्कार करता हूं ।
इन पांचों का स्मरण व जाप कर, मन,
वचन, काय से आदर पूर्वक भजता हूं ॥ ९० ॥

भगवान जिनेन्द्र देव ने व्रत करने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों को चार प्रकार का सूतक बतलाया है। पहला अतीव अर्थात् स्त्रियों के ऋतु धर्म वा मासिक धर्म से होने वाला, दूसरा सौतिक अर्थात् प्रसूति से होने वाला, तीसरा मार्तव अर्थात् मृत्यु से होने वाला और चौथा उनके संसर्ग से होने वाला माना गया है ॥ ९० ॥

हवइ जणणासोचं आयारस्स विसुद्धए।
साबो पाओ पसूइंच तं इमं तिविहं वर ॥ ९१ ॥

भवति जननाशौचमाचरस्य विशुद्धये।
स्रावः पातः प्रसूतिश्च तदिदं त्रिविधं मतं ॥ ९१ ॥

मन ही मन प्रसन्न होकर जिनेन्द्र मुनि का सदा अनुसरण करते हैं।
क्योंकि वे तप से तपे हुए, गुण प्रवचन व चतुराई से युक्त बात
कहते हैं ॥ ९१ ॥

अपने आचार विचारों की शुद्धि के लिए जन्म संबंधी सूतक स्राव, पात और प्रसूति के भेद से तीन प्रकार का होता है। गर्भाधान से चार महीने तक गर्भ गिर जाय तो उसे स्राव कहते हैं। पांचवे छठे महीने में गर्भ गिर जाय तो उसे पात कहते हैं। तथा सातवें, आठवें, नोवें, दशवें महीने में गर्भ बाहर आता है उसको प्रसूति कहते हैं ॥ ९१ ॥

पस्सवे मरणेज्जाए णाहिच्छेय परं किल।
माऊ पिऊ संपिडाणं असुइ पुण्णमेहए ॥ ९२ ॥

प्रसवे मरणे जाते नाभिच्छेदात्परं किल।
मातुः पितुः सपिंडानामशौचं पूर्णमीरितः ॥ ९२ ॥

दोनों अंजुली जोड़कर, सिर झुकाकर नमन करता हूँ।
तीन शुद्धि से ही, भव सागर से पार होता हूँ ॥ ९२ ॥

किसी के जन्म होने पर तथा नाभिच्छेदन के बाद किसी बालक के मर जाने पर माता-पिता और कुटुम्बियों को पूर्ण सूतक मानना चाहिए ॥ ९२ ॥

दूरदेस मियं जायं पिउं भाउंच सूय।
पुण्णमेव जणाणं च दिवसेगं च सूयगं ॥ ९३ ॥

दूरदेशमृतस्यात्र पित्रोभ्रातुश्च सूतकं।
पूर्णं दूर जनानां तु दिवसैकं च सूतकं ॥ ९३ ॥

मात पिता भाई आदि दूर देश मर जाय।
चार पीढ़ी तक दश दिन कहे, दूरवर्ती का एक दिन होय॥ ९३॥

यदि अपने माता-पिता वा भाई दूर देश में मर जाय तो पुत्र वा भाई को पूर्ण दश दिन का सूतक मानना चाहिए। तथा दूर के कुटुम्बियों को एक दिन का सूतक मानना चाहिए॥ ९३॥

दिवसत्यम सोयं च चउत्थेहि विसुद्ध ए।
पादुं हि केवलं सो वि दाण पूयासु पंचमें॥ ९४॥

दिनत्रयमशौचं स्यात्सा चतुर्थेऽह्नि शुद्धयति।
पत्यौहि केवलं सा च दान पूजासु पंचमे॥ ९४॥

तीन दिन का रजो धर्म का सूतक सबको रखना चाहिए।
चतुर्थ स्नान में पति को भोजन, दान पूजा पंचम में करना चाहिए॥ ९४॥

प्राकृतिक अर्थात् प्रत्येक महीने में होने वाले रजोधर्म में स्त्रियों को उस रजो धर्म के होने के समय से तीन दिन तक सूतक मानना चाहिए, चौथे दिन वह स्त्री केवल पति के लिए शुद्ध मानी जाती है। तथा दान और पूजा आदि कार्यों में पांचवे दिन शुद्ध मानी जाती है॥ ९४॥

चंडालिणी समा आइं बंह दि य बीयए।
तइसं रायरूवं च तुरियं दिव सुद्धए॥ ९५॥

चाण्डालिनी समा चाद्ये ब्रह्मघ्नीव द्वितीयके।
तृतीये रजकी रूपा सातुर्येऽह्नि विशुद्धयति॥ ९५॥

प्रथम दिन चाण्डालनी जानो, शील का घात करे दूजे दिन।
तीजे दिन धोबिनी जानो, मस्तक स्नान से शुद्धि चौथे दिन॥ ९५॥

इस रजोधर्म में वह स्त्री पहले दिन चाण्डालिनी के समान मानी जाती है, दूसरे दिन ब्रह्मचर्य को घात करने वाली के समान मानी जाती है, और तीसरे दिन धोबिन के समान मानी जाती है। इस प्रकार तीन दिन तो वह अशुद्ध रहती है।

चौथे दिन मस्तक से स्नान कर लेने पर वह शुद्ध होती है ॥ ९५ ॥

वयी खुल्लिग अज्जाओ कुज्जेज्ज असणं त ।
दि त्तय समत्थ मेव आसत्तीए हि आचरे ॥ ९६ ॥

व्रतिका क्षुल्लिका चार्या कुर्यादशनं तदा ।
दिन त्रयं समर्था चेत् ह्यशक्ता तु चरेत्तदा ॥ ९६ ॥

गर शक्ति हो तो दीक्षित स्त्री, तीनों दिन उपवास करे ।
बिन शक्ति के दूर, रसोई से बैठ भोजन को किया करें ॥ ९६ ॥

क्षुल्लिका, आर्यिका आदि दीक्षिता स्त्रियों को यदि सामर्थ्य है तो रजस्वला होने पर तीनों दिन तक उपवास करना चाहिए। यदि इतना सामर्थ्य न हो तो अपनी शुद्धि कर भोजनशाला से दूर बैठकर और अपने शरीर को ढककर भोजन करना चाहिए ॥ ९६ ॥

णी रसं भोयणं सुद्ध यागठ्ठाण सुदूरओ ।
भुंजेज्ज खुल्लिग जाओ आगूढ़ संवियो काइगा ॥ ९७ ॥

नीरसं भोजनं शुद्धं पाकस्थानात्सुदूरतः ।
भुंजीत क्षुल्लिकाचार्या गूढासंवृत कायिका ॥ ९७ ॥

अपनी शुद्धि कर भोजन शाला से, छाया अपनी दूर रखें ।
निज शरीर को ढक करके, नीरस भोजन किया करे ॥ ९७ ॥

अपनी शुद्धि कर भोजनशाला से दूर अर्थात् अपनी छाया भोजन पर नहीं जावे इतनी दूर बैठकर और अपने शरीर को ढंककर नीरस शुद्ध भोजन करना चाहिए ॥ ९७ ॥

एगासणं सुमोणेणं परंतदपि णीरसं ।
सुद्धि किच्चेच्च एगंत धवल वत्थ सुद्धगं ॥ ९८ ॥

एकाशनं सुमौनेन परं तदपि नीरसं ।
शुद्धिं कृत्वा चैकांते धौत वस्त्रान्विता शुभं ॥ ९८ ॥

शुद्धिकर एकान्त में, साड़ी धुलि सफेद पहना करें।
मौन पूर्वक एकाशन करे, नीरस या एकाध रस त्याग क रे ॥ ९८ ॥

तथा एकांत में शुद्धि कर धुली हुई सफेद धोती (साड़ी) पहिन कर मौन पूर्वक नीरस आहार से एकाशन करना अथवा एक आदि रस छोड़कर भोजन करना चाहिए ॥ ९८ ॥

पसण्ण मणसा संते सेव वार त्तपं णमे।
चउत्थ अण्हिगमेव ण्हाणं च मज्झ वारिणा ॥ ९९ ॥

प्रसन्नमानसाशान्ता सैव बार त्रयं नयेत्।
चतुर्थेऽह्नि च सा स्नायात्मध्यान्हे शुद्ध वारिणा ॥ ९९ ॥

रजस्वला के तीनों दिन, शांत रूप से प्रसन्न रहे।
चतुर्थ दिन दुपहरी, शुद्ध जल से स्नान करें ॥ ९९ ॥

क्षुल्लिका वा आर्यिका को रजस्वला की दशा में तीनों दिन अत्यन्त शांत भाव के साथ प्रसन्न मन से निकालने चाहिए और चौथे दिन दोपहर के समय शुद्ध जल से स्नान करना चाहिए ॥ ९९ ॥

जा इत्थी हि रजस्सला पालएज्जण धम्मगं।
सुद्धा साय मया वित्ता किरिया हीण पाविणी ॥ १०० ॥

या स्त्री रजस्वलाऽऽचरं अबोधान्नैव पालयेत्।
शूद्रा सा च मता वृत्त क्रियाहीना च पापिनी ॥ १०० ॥

रजस्वला के आचार, विचार, अज्ञानवश जो न पाले ये।
धर्म कर्म रहित शुद्रा बनकर, पापिनी वह कहलाये ॥ १०० ॥

जो स्त्री अपनी अज्ञानता के कारण रजस्वला के आचार विचारों को नहीं मानती, उसको शूद्रा के समान समझना चाहिए। तथा वह स्त्री धर्म कर्म से रहित पापिनी ही समझी जाती है ॥ १०० ॥

पुत्तप्पसूयगं माउं दसं णिरिक्खए।

सुकम्मं अहिगारं च दिण दिणं च विंसइं ॥ १०१ ॥

पुत्र प्रसूतौ तदा मातुर्दशाहमनिरीक्षणं ।
सुकर्मानधिकारोऽस्ति दिनानिकिल विंशति ॥ १०१ ॥

पुत्र जन्म से दश दिन तक, दर्शन कोई न कर पाये ।
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
बीस दिन घर काम छोड़कर, मास बाद पूजा दान कर पाये ॥ १०१ ॥

यदि प्रसूता स्त्री को पुत्र उत्पन्न हुआ हो तो उस माता को दश दिन तक तो अनिरीक्षण नामका सूतक लगता है, अर्थात् दश दिन तक को किसी को भी उसका दर्शन नहीं करना चाहिए। तदनंतर बीस दिन तक घर के किसी भी कार्य को करने का उसको अधिकार नहीं माना जाता। इस प्रकार जिनागम के अनुसार पुत्र उत्पन्न करने वाली प्रसूता स्त्री को एक महीने का सूतक लगता है। एक महीने के बाद वह स्त्री जिन पूजा और पात्रदान के लिए शुद्ध मानी जाती है ॥ १०१ ॥

इत्थीपसूय माउ वि तं दसं च णि रिक्खए ।
सुकम्मं अहिगारं च जाव विंसइ वासरं ॥ १०२ ॥

स्त्री प्रसूतौ तुमातुः स्याद्दशाहान्यनिरीक्षणं ।
सुकर्मानधिकरोऽस्ति यावद्विंशति वासरां ॥ १०२ ॥

पुत्री जन्म से दश दिन तक, दर्शन कोई न कर पाये ।
बीस दिन घर काम छोड़कर, सूतक पालन कर पाये ॥ १०२ ॥

पक्खाहं च जिणेसं च, अहिगार सुलक्खणं ।
मासं एगं च धम्मं च, सोयं च कुणेज्ज णिच्चं ॥ १०३ ॥

पक्षाहं च जिनेज्याद्यनधिकार सुलक्षणं ।
मासैकार्धमशौचं हि प्रसूताया जिनैर्मतं ॥ १०३ ॥

पक्ष बाद जिनवर की पूजा, पात्र दान कर सकते हैं ।
कन्या जन्म से डेढ़ मास का सूतक जिनवर कहते हैं ॥ १०३ ॥

यदि उस प्रसूता स्त्री को कन्या उत्पन्न हुई हो तो उस को दश दिन तक अनिरीक्षण नाम का सूतक लगता है और बीस दिन तक घर के काम काज करने के अधिकार न होने का सूतक है। इसके बाद पंद्रह दिन तक उसको जिन पूजा और पात्र दान देने का अधिकार नहीं रहता। इस प्रकार उस कन्या को उत्पन्न करने वाली स्त्री के लिए पैंतालीस दिन का सूतक जिनेन्द्र भगवान के मत में माना गया है ॥ १०२-१०३ ॥

जिण पण्ण सरं णिच्च, पत्तदाणा णु मोयणं ।
पणास एज्ज पावाणिं किं पुण समकिज्जेज्ज ॥ १०४ ॥

जिन प्रज्ञास्मृतिर्भक्त्या, पात्रदानानुमोदनं ।
प्रणाशयति पापानि, किं पुनः स्वकृते चते ॥ १०४ ॥

जिन पूजा और दान देख हर्षित हो, पाप नष्ट हो जाते हैं ।
स्वयं करे जो पूजा दान तो, कैसे पाप टिक पाते हैं ॥ १०४ ॥

जो पाप बुद्धि पूर्वक स्मरण करने, अनुमोदना करने मात्र से नष्ट हो जाते हैं तो स्वयं यदि पात्र दानादि करें तो क्या कहना ? अर्थात् जिन पूजा, सत्पात्रदानादि को देखकर जो हर्षित हो उसकी अनुमोदना करता है तो महान पापों को नाश कर देता है फिर स्वयं करे तो भला उसके पाप कैसे टिक सकते हैं ? नष्ट हो ही जाते हैं ॥ १०४ ॥

पाभच्छित्तागम सुत्तं पायच्छित्त विहिं परं ।
पण्णुवएसगं णिच्चं, पायच्छित्तं तणेज्जए ॥ १०५ ॥

प्रायश्चित्तागमेसूक्तः, प्रायश्चित्त विधिः परः ।
तज्ज्ञोपदेशतः शेषं, प्रायश्चित्तं तनो हविः ॥ १०५ ॥

दोष निवृत्ति को आगम में, कई प्रायश्चित्त विधान बतलाये ।
प्रायश्चित्त ज्ञाताओं के उपदेशों को सुन भव्य जीव उसे अपनाये ॥ १०५ ॥

आगम में अन्य दोषों की निवृत्ति के लिए विविध प्रकार के प्रायश्चित्तों का

विधान विहित है। प्रायश्चित्त शास्त्र के ज्ञाताओं के उपदेशानुसार ज्ञात कर भव्यात्माओं को उनका आचरण करना चाहिए॥ १०५॥

पायच्छित्त तवो काले आसयाओ हि अरसवो।

गणए वलयं मंतं सव्व दोसं पसंतए॥ १०६॥

प्रायश्चित्त-तपः कालेऽऽ,-श्रयादथवा जपेत्।

गणभृद्वलयमंत्रं, सर्वदोषं प्रशांतये॥ १०६॥

तपस्या काल में प्रायश्चित्त ग्रन्थों का, आश्रय लेकर जाप करें।

गणधर वलय मंत्र के जाप से, सब पापों का शमन करें॥ १०६॥

प्रायश्चित्त पूर्वक तपस्या काल में इसका आश्रय लेकर जप करना चाहिए तथा गणधर वलय मंत्र को जपना चाहिए। इससे भी सभी प्रकार के दोषों का शमन होता है॥ १०६॥

ति संझं मार्ण च णमामि भत्तीहि।

यजेमि पंचं वि गुरु जहा विही॥

सुझामि अण्णं च पदेहि जप्पए।

भजामि वक्काय मणो सुमाणं एज्जं॥ १०७॥

त्रिसंध्यमानीभि नमामि भक्तिभिः।

यजामि पंचापि गुरुर्यथा विधिः॥

स्मरामि तान्यं च पदैर्जयान्यऽहं।

भजामि वाकाय मनोऽतिरादरात्॥ १०७॥

आचार्य आदिसागर अंकलीकर के, अंतिम भाव प्रदर्शित करते हैं।

पंच परमेष्ठी और नवकार के, जप से जीवन को पावन बनाते हैं॥ १०७॥

आचार्य आदिसागर अंकलीकर की अंतिम भावना, श्री परम गुरु आचार्य भगवंत निवेदन करते हैं कि मैं पंच परमेष्ठी परम गुरुओं को तीनों संध्याओं में मन, वचन, काय की शुद्धि पूर्वक पूर्ण भक्ति से अनेक बार नमस्कार करता हूं,

यथा विधि पूजा करता हूं, स्मरण करता हूं, तथा पंच परमेष्ठी वाचक मंत्रराज का स्थिर चित्त से जप भी करता हूं। निरंतर आदर से उन्हीं का ध्यान कर अपने को पावन करता हूँ ॥१०७॥

मणो मम उदाश्विणं मुणि जणं सत्तच्ची ।
तवेज्ज हि गुणं पह पवयणे हि वाणी ।
वपुं कर जुगंजलिं सुभवणे हि मग्गी ।
विसुद्धि एव भव संभव भवे वि संपज्जए ॥ १०८ ॥

मनोममुदा जिनान्मुनि जनान् सदार्चि ।
तपेत्तदीय गुणावर्त्मने प्रवचने च वार्ग्वततां ॥
वपुकर युगंजलिं कुमल रचेत् शीर्णेनमेत् ।
त्रिशुद्धिरेवमेव-संभव भवेऽपि संपद्यतां ॥ १०८ ॥

आचार्य आदिसागर जी अंकलीकर,
इस ग्रन्थ को लिखने का फल बतलाते हैं ।
पंच परमेष्ठी की भक्ति से आत्म शुद्धि और
पुष्ट भक्ति का वरदान प्रभु से चाहते हैं ॥ १०८ ॥

ग्रंथकार की अंतिम भावना-

आचार्य परमेष्ठी श्री आदिसागर जी अंकलीकर गुरुदेव लिखते हैं कि मेरा मन श्री अर्हंत-जिन भगवान और जिन गुरुओं को उत्तम गुण स्मरण में लीन रहे। उन्हीं की भाव पूजा में संलग्न हो और उन्हीं के गुरु सागर का वर्णन वचन प्रणाली - धर्मोपदेशना में प्रवृत्त हो । अर्थात् आर्ष परंपरा पालन में ही मन-वचन का प्रयोग होता रहे - मनगढंत न हो। तथा शरीर से भी कर युगल से अंजुलि बनाकर मस्तक पर रखकर - कमलाकर करयुगल जोड़ कर शिर पर रख मस्तक झुकाकर मन, वचन, काय की शुद्धि पूर्वक निरंतर उन्हीं परम गुरु पंच परमेष्ठियों की भक्ति करता रहूँ। इस ग्रंथ रचना का फल यही चाहता हूँ कि पंच परमेष्ठी की भक्ति से मेरी आत्म शुद्धि हो और भक्ति पुष्ट बने॥ १०८ ॥

इति श्रीमदाचार्यादिसागरांकलीकरेण विरचितमिदं प्रायश्चित्त विधानं पंचदशोत्तर-एकोनविंशति खिराब्दे भाद्रपद शुक्ला पंचमी तिथौ शुभ दिवसे समाप्तं ॥ भद्रं भूयात् ॥ शुभं भवतु ॥ कल्याणमस्तु ॥

इस प्रकार श्रीमान् आचार्य श्री आदिसागरजी अंकलीकर के द्वारा प्रतिपादित यह प्रायश्चित्त विधान नाम का ग्रंथ सन् १९१५ भाद्रपद शुक्ल पंचमी तिथि में शुभ दिन में पूर्ण हुआ ॥ सरल हो ॥ शुभ हो ॥ कल्याण हो ॥

अनुवादक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज ❑

मूलग्रंथ कर्ता की प्रशस्ति

णामेमि हं चउसंहं च पयावइं च ।
सव्वं च तित्थयर तित्थय वड्ढमाणं ॥
किच्चा सुयं गणहरं सुयणाह णिच्चं ।
सुत्तत्थ भासण-परं परमत्थ णंदिं ॥ १ ॥

चार प्रकार के पवित्र संघ को और चौबीस तीर्थंकरों को तथा वर्द्धमान तीर्थंकर श्रुत केवली गणधर श्रुतनाथ सूत्र और अर्थ का कथन कर्ता को नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

तेसिं परंपर धरे हि वलाद संघे ।
जाएज्ज कुंद कुसुम्व सुकुंदकुंदो ॥
तम्हिं च ओसहमणिं गुण जंत मंतं ।
जोतिस्स-सत्थ-कलसक्कद पायम्मि ॥ २ ॥

उस परंपरा को धारण करने वाले संघ में, कुंद पुष्प के समान, कुंदकुंद को और औषध, मणि-रत्न गुण, यंत्र, मंत्र, ज्योतिष शास्त्र के ज्ञान को प्राप्त हूँ।

हं अंकलिकरस्स पुरए परिवासिणोहि ।
देसस्स भूसण कुलस्स सुसिण्णिहिम्मि ॥
दिक्खाइ जाइ अणगार गुणप्पियो वि ।
सूरिंपदे परिगओ चउसंघ सीलो ॥ ३ ॥

मैं आचार्य आदिसागर अंकलीकर अंकली नगर का रहने वाला देशभूषण कुलभूषण के सुसानिध्य में दीक्षित अनगार गुणों को धारण किया। और चतुर्विध संघ ने आचार्य पद से सुशोभित किया।

रच्चेमिदिव्व जिणदेसण सार रूवं ।
उब्बोहणं जिणरहस्स वयणमियोवि ॥
कल्लाण धम्म सिवमग्ग सुगंध-गारं ।
भव्वाण णंद दग सुसुत्तसु अप्पभावं ॥ ४ ॥

जिनेन्द्र देव की देशना का सार भूल उदबोधन जिन रहस्य पूर्ण वचनामृत कल्याणकारी धर्म मोक्षमार्ग को भव्यों के लिए उत्तम सूत्ररूप आत्म भाव से रचना की है।

वत्तो विहिगुण गुणाणु जुयं च सुत्तं ।
पायच्छियं लिहमिगंथ सुगंथ णासं ॥
जेसिंग खेत्त मग्ग रह सुसांगलीए ।
गामो सुभावण आइरिय झाण जुत्तो ॥ ५ ॥

उसकी विधि गुण को गुणों से परिपूर्ण प्रायश्चित्त सूत्रों को लिखा हूं। जैसिंगपुर नगर सांगली ग्राम में उत्तम भावों सहित मुनीश्वर मुझ आचार्य ने ध्यान पूर्वक लिखा हूं।

उण्णीस सत्तर इगे सुय जेट्ठ पंचे ।
णिम्मेमि गंथ गुण णंदण सार रूवं ॥
हं अंकलीयर आइरिय आदिसिंधु ।
कल्लाण हेउ सय लाभ इणं लिहेमि ॥ ६ ॥

विक्रम संवत १९७१ उन्नीस सौ इकहत्तर ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को नियम के गंध गुण पूर्वक सारभूत मैं अंकलीकर आचार्य आदिसागर ने सभी के कल्याण के हेतु से इसको लिखा हूं। इस प्रकार इति भद्रं भूयात् सब जीवों में सरलता हो।

❑

संस्कृतानुवाद कर्ता प्रशस्ति

श्रीमान् शेषनरनायक वंदितांघ्री,
श्री आदिनाथ जिननाथ सुधर्म सूर्यः।
श्री वर्धमान जिनरन्तिम तीर्थनाथः,
श्री गौतम गणपति श्रुतपारगामी॥ १॥

जो श्रीमान् अंतरंग बहिरंग लक्ष्मी के स्वामी जिन की धरणेन्द्र मनुष्य और चक्रवर्ती द्वारा वंदित हैं ऐसे भगवान ऋषभदेव (आदिनाथ) जिनेन्द्र भगवान श्रेष्ठ धर्म के सूर्य हैं, और श्री वर्द्धमान (महावीर) भगवान जो अंतिम तीर्थंकर हैं और उनके प्रमुख श्री गौतम गणधर (गणपति) श्रुत के पारगामी हैं, की मैं वंदना करता हूं।

तस्यान्वये भूविदिते बभूव, यः पद्मनन्दि प्रथमाभिधान।
श्री कोंड कुंदादि मुनिश्वराख्यः, सत्संयमादुद्‌गत चारणर्द्धिः॥ २॥

उनकी परंपरा में सभी के परिचित और जिनका प्रथम नाम लिया जाता है ऐसे पद्मनंदि (कुंदकुंदाचार्य) जो कि मुनियों में प्रधान और जिनका सत्य संयम अर्थात् जो महाव्रती हैं जिन्हें ऋद्धि प्राप्त है।

तदन्वये तत्सदृशोऽस्तिनान्यः, तात्कालिका शेषपदार्थ वेदी।
स मोक्षमार्गे मति प्रतीते, समग्रशीलामल रत्नजालैः॥ ३॥

उसी परंपरा में उन्हीं के समान थे और अन्य प्रकार से नहीं थे जो तत्काल किये गये प्रश्नों का समाधान करते थे और नौ पदार्थ के भी जानने वाले थे,

जिनकी हमेशा मोक्षमार्ग में ही बुद्धिपूर्वक प्रीति व प्रतीति थी, जो समस्त शील सहित थे और अमल (शुद्ध) रत्न अर्थात् रत्नत्रय का पालन करने वाले थे ऐसे-

स्याद्वाद धर्म परमामृत दत्तचित्तः,
सर्वोपकारि जिननाथ पदाब्ज भृंगः।
साहित्य कर्म कवितागम मार्गरुकै,
जीयाच्चिरं गणीवरं गुरु आदि सिंधु ॥ ४ ॥

स्याद्वाद धर्म के परम अमृतपान करने में दत्त चित्त हैं जो सभी का उपकार करने वाले हैं और जिनेन्द्र भगवान के चरण कमल के भ्रमर (भौंरे) हैं ऐसे वे गुरु आचार्य आदि सागरजी महाराज अंकलीकर चिरकाल तक जीवित रहें।

तच्छिष्योऽहं महावीर कीर्ति मुनिपदं दैगम्बरी दीक्षया।
वैयावृत्ति सुचारु रूप प्रतिदिनं सेवा सदा क्रीयते ॥
निज आचार्य सुपट्ट दत्त विधिवत् ऊदस्थ ग्रामे मया।
वंदेऽहंनिज आत्म लब्धि मनसा श्री आदि सिंधु गुरुः ॥ ५ ॥

उनका मैं शिष्य हूँ मुझे मुनि दीक्षा प्रदान करके महावीर कीर्ति मुनि नाम दिया और जिनकी मैंने सुचारू रूप से प्रतिदिन सेवा वैयावृत्ति हमेशा की है और फिर उन्होंने अत्यन्त आचार्य पद विधिवत् ऊदगाँव (महाराष्ट्र) में प्रदान किया। ऐसे मैं अपनी निज आत्म उपलब्धि हेतु मन से उन मेरे दीक्षा गुरु आचार्य आदिसागरजी महाराज अंकलीकर को नमस्कार करता हूँ।

श्रीनृपति विक्रमादित्य, राज्ये परिणते सति।
द्विसहस्रे एकोपरि, शुभे संवत्सरे महा ॥ १ ॥
चैत्रमासे सितेपक्षे, त्रयोदश्यां गुरौ दिने।
पूर्वा फाल्गुन्यौ संज्ञे, लग्ने कन्यायां तथा ॥ २ ॥
आदिसागर आचार्य, रचितं दंडं महाकृतिं।
तत्संस्कृतानुवादेन, ग्रंथं पूर्णं कृतं महा ॥ ३ ॥

विक्रमादित्य राजा के राज्य समय में संवत् २०७ ईस्वी हजार एक समय चैत्र मास की तेरस (महावीर जयंति) गुरुवार पूर्वा फाल्गुनी नक्षत्र के दिन कन्या लग्न में मैंने आचार्य आदिसागरजी महाराज अंकलीकर द्वारा रचित दंड (प्रायश्चित्त) ग्रंथ (प्राकृत) महाकृति का संस्कृत में अनुवाद किया।

॥ इति ॥

❑

हिन्दी टीकाकर्त्री की प्रशस्ति

अथ श्री मूलसंघे, सरस्वति गच्छे, बलात्कार गणे, श्री कुंदकुंदाचार्य परंपरायां, दिगम्बराम्नाये परम पूज्य अंकलीकर चारित्र चक्रवर्ती मुनिकुंजर सम्राट प्रथमाचार्य आदिसागरस्य पट्ट शिष्य परम पूज्य तीर्थभक्त शिरोमणि समाधि सम्राट, अठारह भाषा-भाषी, उद्भट विद्वान, आचार्य श्री महावीरकीर्तेः संघस्था कलिकाल सर्वज्ञ, वात्सल्य रत्नाकर सन्मार्ग दिवाकर आचार्य विमल सागरस्य शिष्या १०५ प्रथम गणिनि आर्यिका ज्ञान चिंतामणि, रत्नत्रय हृदय सम्राट विजयमति इयं प्रायश्चित्त विधानीत्र हिंदी टीका विरचितामया आद्य मगशिर शुक्ला तृतीया शुक्रवासरे, संध्या काले पूर्वाण्ह रात्रौ वीर नि. सं. २५२९ परिसमाप्ता ता. ६-१२-२००२ गजपंथा सिद्धक्षेत्रे।

॥ इति ॥

❑

टिप्पणी

(आचार्य सन्मति सागर)

परम पूज्य प्रातः स्मरणीय, विश्व वंद्य, मुनिकुंजर, समाधि सम्राट, आदर्श तपस्वी, अप्रतिम उपसर्ग विजेता, दक्षिण भारत के वयोवृद्ध संत, महामुनि, आचार्य शिरोमणि श्री आदिसागर जी महाराज अंकलीकर के द्वारा प्रतिपादित ग्रंथ प्रायश्चित्त नाम का है। यह ग्रंथ प्राचीन सर्वज्ञ के द्वारा निःसरित दिव्य ध्वनि से ग्रंथित गणधर देव प्रति गणधर देव तथा पूर्वाचार्यों के अनुसार प्रतिपादित है। इस प्रकार की पद्धति के ग्रंथ स्वतंत्र तथा अन्य चरणानुयोग के शास्त्रों के अंतर्गत भी पाई जाती है। जब तक परमात्मा स्वरूप परिणत नहीं होता तब तक त्रुटियां दूर नहीं होती है। उनको दूर करने का प्रयास करने के मार्ग को मोक्षमार्ग कहते हैं। अथवा साधक का एक तरीका है। अथवा साधक की एक साधना है। उसी के लिए सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र ग्रहण किये जाते हैं। अनादिकालीन वासना या आदत के अनुसार प्रतिक्षण गल्तियाँ हो रही हैं। अथवा नहीं जानते हुए हो जाती है। अथवा नहीं चाहते हुए भी हो जाती है। उनकी पुनरावृत्ति को रोकने के लिए दंड की आवश्यकता होती है। वह दंड या प्रायश्चित्त कौन देवे ? इसका जिसको ज्ञान होगा अनुभव होगा अथवा जिसने भोगा होगा अथवा जिसने परंपरा से गुरुओं को दंड दूसरों को देते हुए देखा होगा। वही सही रूप से और योग्य अपराध के अनुरुप दंड दे सकता है वह दंड भूल अपराध को नष्ट करेगा और भावी अपराध को रोकने में समर्थ होता है अनुभवी प्राचीन आचार्यों को ही स्वयं प्रायश्चित्त जिनेन्द्र देव की साक्षी में लेने का अधिकार है। अन्य सभी को ऐसे ही गुरुओं से प्रायश्चित्त लेना चाहिए जिनको आगम रहस्य का ज्ञान नहीं है। उनसे लिया गया प्रायश्चित्त से अपराध का नाश नहीं होता है। पूर्व में भी छेदपिंड, छेदशास्त्र, प्रायश्चित्त चूलिका, प्रायश्चित्त ग्रंथ आदि प्रायश्चित्त के स्वतंत्र ग्रंथ है। जो संभवतया उपलब्ध हो जाते हैं। इन ग्रंथों में से कुछ तो प्राकृत में और कुछ

संस्कृत में है तथा क्रमशः गाथायें ३६२-९४-१६६-३० हैं। महापुरुषों का ज्ञानदान भी सूत्ररूप होता है। इसी प्रकार का प्रस्तुत ग्रंथराज भी है। गुरुओं की यह महती करुणा संसारी प्राणियों पर अनादि काल से चली आ रही हैं। पूर्वानुसार ही परम गुरु परमात्मा परमेश्वर मुनिकुंजर आचार्य शिरोमणि आदिसागरजी महाराज अंकलीकर ये भी है। उन आचार्य परमेष्ठी के हम सभी प्राणी ऋणी हैं जो अपराधों को दूर करने का मार्ग बताया है लिपिबद्ध किया है।

प्रायश्चित्त विशुद्धि, मलहरण, पापनाशन और छेदन ये पर्यायवाची शब्द हैं। उसमें से नौ णमोकार मंत्र का एक कायोत्सर्ग होता है। बारह कायोत्सर्गों का एक सौ आठ णमोकार मंत्रों का एक जप होता है। एवं जप का फल एक उपवास है। यहा पर उपवास शब्द का अर्थ यही है। आचाम्ल, निर्विडि (निर्विकृत) गुरुनिरत (पुरुमंडल) एक स्थान, उपवास ये पांचों मिलकर एक कल्याणक होता है। यदि कोई मुनि इस कल्याणक के पांचों अंगों में से आचाम्ल पांच, निविड पांच, उपवास पांच इनमें से कोई एक कर लेवे तो वह लघु कल्याणक कहलाता है। यदि पांचों कल्याणकों में से कोई एक कम करे तो उसको भिन्न कल्याणक कहते हैं। यदि वे आचाम्ल, गुरुनिरत, एक स्थान, निविड इनको करे तो अर्द्ध कल्याणक कहा जाता है।

यदि किसी मुनि से बारह एकेन्द्रिय जीवों का घात अज्ञानता से हो जाय तो एक उपवास। यदि छः दो इंद्रिय जीवों का घात हो जाय तो एक उपवास, यदि चार तेइंद्रिय जीवों का घात हो जाय तो एक उपवास, यदि तीन चतुरिन्द्रिय जीवों का घात हो जाय तो एक उपवास, यदि छत्तीस एकेन्द्रिय जीवों का घात हो जाय तो प्रतिक्रमण सहित तीन उपवास, इसी प्रकार तीन गुणें जीवों के घात का तीन गुणा प्रायश्चित्त होता है तथा अजानकारी में यदि मुनि से एक सौ अस्सी एकेंद्री, नब्बे दो इंद्री, साठ तेइंद्री, पैंतालीस चतुरिंद्रिय जीवों का वध हो जाय को अलग-अलग एक-एक पंचकल्याणक उत्कृष्ट प्रायश्चित्त है।

मूलगुण के चार भेद हैं - स्थिर मूलगुण चारित्रधारी, अस्थिर मूलगुण चारित्रधारी, प्रयत्न चारित्र मूलगुण धारी, अप्रयत्न चारित्र मूलगुण धारी। ये ही

चार भेद उत्तर गुण धारियों के होते हैं। इस प्रकार से ये मुनियों के आठ भेद हो जाते हैं। इन सबके प्रायश्चित्त अलग-अलग होते हैं। यथा - प्रथम मुनि को तीन उपवास, दूसरे को प्रतिक्रमण पूर्वक एक पंच कल्याणक, तीसरे को प्रतिक्रमण पूर्वक तीन उपवास, और चौथे को प्रतिक्रमण पूर्वक एकलघु कल्याणक है। इसी प्रकार अनुक्रम से ऊपर कहा हुआ प्रायश्चित्त उत्तर गुण वालों का होता है। यह एक पंचेन्द्रिय असैनी जीव के वध का प्रायश्चित्त है। यदि ऊपर लिखे आठ प्रकार के मुनियों में से नौ प्राणों वाले असैनी प्राणी का अनेक बार वध हो जाय तो क्रमशः तीन उपवास, एक कल्याणक, दो लघु कल्याणक, तीन पंच कल्याणक कहा गया है।

उत्तर गुण को धारण करने वाले साधु अपने प्रमाद से एकेन्द्रियादि चतुरिंद्रिय पर्यंत जीवों के गमनागमन को रोकें तो एक कायोत्सर्ग करें। यदि वे असैनी पंचेन्द्रिय का गमनागमन को रोकें तो एक उपवास करें। यदि मूलगुणधारी साधु प्रमाद से एकेन्द्रि आदि चतुरिंद्रिय पर्यंत जीवों के गमनागमन को रोकें तो एक कायोत्सर्ग से असैनी पंचेंद्रिय का गमनागमन रोके तो उपवास करें। तथा जहाँ-जहाँ पर प्रयत्नाचार व अप्रयत्नाचार के द्वारा एकेंद्रिय या असैनी पंचेन्द्रिय जीवों का गमनागमन को रोकें तो एक कायोत्सर्ग और सैनी पंचेंद्री का गमनागमन रोके तो एक उपवास करें।

यदि किसी मुनि से क्रोधादि कषायों से तथा अशुभ कर्म के उदय से अनेक अनर्थों का मूल ऐसा महापात हो जाय तो वे अनुक्रम से एक वर्ष तक निरंतर तेला पारणा मुनि को मारने का है और श्रावक को मारने का छः महीने तक तेला पारणा करे। बालहत्या, स्त्री हत्या, गौ हत्या हो जाने पर अनुक्रम से तीन महीना, डेढ़ महीना और साढ़े बाईस दिन तक तेला पारणा करे। परमति पाखण्डी के मारने का छः महीने और उनके भक्त को मारने का तीन महीना तक तेला पारणा करें।

नीच के मारने का डेढ़ महीना तेला पारणा करें। ब्राह्मण के मारने का आदि अंत में तेला करें और छः महीने तक एक उपवास और एक एकाशन करें। क्षत्रिय के मारने का आदि अंत में तेला और तीन महीने तक एकांतर उपवास करें वैश्य

के मारने का डेढ़ महीने तक एकांतर उपवास और आदि अंत में तेला करें। किसी-किसी आचार्य मत में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के मारने का प्रायश्चित्त आठ महीने, चार महीने, दो महीने और एक महीने तक एकांतर उपवास और आदि अंत में तेला बतलाया है। इसी प्रकार घास-फूस खाने वाले पशु के मर जाने पर चौदह उपवास, मांस भक्षी पशु के मरने पर ग्यारह उपवास, पक्षी, सर्प, जलचर, छिपकली आदि जीवों के मरने पर नौ उपवास प्रायश्चित्त बताया है।

एक बार प्रत्यक्ष असत्य कहने का प्रायश्चित्त एक कायोत्सर्ग है एक बार परोक्ष असत्य कहने का प्रायश्चित्त दो उपवास है एक बार त्रिकोटि से असत्य कहने का तीन उपवास अनेक बार प्रत्यक्ष कहने का पंच कल्याणक है अनेक बार परोक्ष असत्य भाषण का पंच कल्याण है अनेक बार प्रत्यक्ष परोक्ष मिश्र असत्य कहने का पंचकल्याणक है अनेक बार त्रिकोटी से असत्य कहने का पंचकल्याणक है।

यदि मोह से एक बार परोक्ष चोरी करने पर एक कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त है एक बार प्रत्यक्ष चोरी करने पर एक उपवास है। यदि एक बार प्रत्यक्ष परोक्ष में चोरी करने पर दो उपवास है। यदि एक बार त्रिकोटी से चोरी करने पर तीन उपवास अनेक बार परोक्ष में चोरी करने पर पंच कल्याणक, अनेक बार प्रत्यक्ष चोरी करने पर पंच कल्याणक, अनेक बार त्रिकोटी से चोरी करने पर पंचकल्याणक है।

यदि मुनि नियम रहित और देव वंदना सहित रात्रि में निद्रा ले और स्वप्न में वीर्यपात होने पर सोपवास प्रतिक्रमण यदि मुनि नियम सहित देववंदना पूर्वक रात्रि में निद्रा ले और स्वप्न में वीर्यपात होने पर सोपवास प्रतिक्रमण, यदि पिछली रात्रि में सामायिक से पूर्व वीर्यपात होने पर सोपवास प्रतिक्रमण यदि शाम की सामायिक के बाद नियम सहित सोने पर निंद्रा में वीर्यपात हो जाय सोपवास प्रतिक्रमण, यदि सामायिक कर नियम सहित देव वंदना पूर्वक सोते हुए वीर्यपात होने पर प्रतिक्रमण सहित तीन उपवास, यदि कोई मुनि आसक्ति से स्त्री से भाषण करने पर प्रतिक्रमण सहित उपवास, यदि स्त्री का स्पर्श हो जाय तो प्रतिक्रमण पूर्वक उपवास, यदि किसी मुनि के मन में स्त्री का चिंतवन होने पर प्रतिक्रमण सहित उपवास प्रायश्चित्त है।

यदि कोई तिर्यंच, देव या मनुष्य किसी मुनि पर उपसर्ग करने पर प्रमाद से ब्रह्मचर्य भंग हो जाय, मैथुन कराले तो प्रतिक्रमण पूर्वक पंचकल्याणक, यदि मुनि कामविकार से मन वचन काय से फिर भी मैथुन करे तो पुनर्दीक्षा (उपस्थापना) प्रायश्चित्त है।

यदि कोई मुनि किसी आर्यिका से एक बार मैथुन सेवन करे तो प्रतिक्रमण सहित पंचकल्याणक, यदि कोई मुनि अनेकबार किसी आर्यिका से मैथुन सेवन करे तो पुनर्दीक्षा, इस बात को बहुत से लोग जान लेने पर या देख लेने पर भी वह न छोड़े तो देश निस्कासन प्रायश्चित्त है।

यदि एक बार उपकरणादि पदार्थों के संग्रह की इच्छा होने पर एक उपवास, यदि एक बार ममत्व से उपकरण रखने पर एक उपवास, यदि अन्य लोगों से दान दिलावें तो पंचकल्याणक, यदि सब परिग्रहों को रक्खें तो पुनर्दीक्षा प्रायश्चित्त है।

जो मुनि रोग के कारण एक रात्रि में चारों प्रकार के आहार का खाना पीना करने पर तीन उपवास, यदि रोग के कारण एक जलग्रहण करने पर एक उपवास, यदि किसी के उपसर्ग में कोई मुनि रात में भोजन पान करे तो पंच कल्याणक, यदि कोई मुनि अपने दर्प से अनेक बार भोजन पान करे तो पुनर्दीक्षा प्रायश्चित्त है।

यदि कोई मुनि टेढ़े मार्ग की एक कोश से कम प्रासुक भूमि में गमन करे तो एक कायोत्सर्ग करे यदि वे सीधे मार्ग की एक कोस अप्रासुक भूमि में गमन करे तो एक उपवास प्रायश्चित्त है। यदि कोई मुनि वर्षा काल में तीन कोस तक प्रासुक भूमि में गमन करने पर एक उपवास, यदि वर्षाकाल में दिन में दो कोस अप्रासुक मार्ग में गमन करने पर एक उपवास, यदि कोई मुनि वर्षा काल में रात्रि में एक कोस गमन करने पर चार उपवास, यदि कोई मुनि वर्षा काल में रात्रि में एक कोस गमन करने पर चार उपवास, यदि शीतकाल में दिन में प्रासुक भूमि पर छः कोस गमन करने पर एक उपवास, यदि शीतकाल में दिन में छः कोस अप्रासुक भूमि में गमन करने पर एक उपवास, यदि शीतकाल में रात्रि में चार कोस प्रासुक मार्ग से गमन करने पर एक उपवास, यदि गर्मी के दिनों में नौ कोस प्रासुक भूमि

में गमन करने पर एक उपवास, यदि गर्मी के दिनों में छः कोस अप्रासुक भूमि में गमन करने पर एक उपवास, यदि गर्मी में रात्रि में छः कोस अप्रासुक मार्ग से गमन करने पर दो उपवास है। यदि मुनि बिना पींछी के सात पैर तक चले तो एक कायोत्सर्ग, यदि बिना पींछी के एक कोस गमन करे तो एक उपवास है। यदि मुनि घुटने तक पानी में गमन करे तो एक कायोत्सर्ग यदि घुटने से चार अंगुल ऊपर तक पानी में गमन करे तो एक उपवास और इसके आगे प्रतिचार अंगुल पर दूने-दूने उपवास प्रायश्चित्त के हैं।

यदि कोई मुनि लोगों में जाकर भाषा समिति में दोष लगाते हुए वचन कहे तो एक कायोत्सर्ग, यदि कोई मुनि सम्यग्दृष्टि श्रावक के दोष प्रकाशित करे तो चार उपवास यदि कोई मुनि जल, अग्नि, बुहारी, चक्की, उखली और पानी आदि कर्मों के वचन कहे तो तीन उपवास, यदि कोई मुनि श्रृंगारादि के गति स्वयं गावे वा किसी से गवावे तो चार उपवास प्रायश्चित है।

यदि कोई मुनि बिना जाने कंदमूलादिक साधारण प्रत्येक सचित्त, अचित्त, वनस्पति एक बार भक्षण करे तथा अन्य वनस्पति सचित्त भक्षण करें तो एक कायोत्सर्ग, यदि बिना जाने अनेक बार कंद मूलादिक वनस्पतियों का भक्षण करे तो एक उपवास, यदि कोई मुनि रोग के कारण कंदादिक वनस्पतियों का भक्षण करे तो एक कल्याणक, यदि कोई मुनि अपने सुख के लिए एक बार कंदादिक का भक्षण करें तो पंच कल्याणक, यदि कोई मुनि अपने सुख के लिए अनेक बार कंदादिक का भक्षण करें तो पुनर्दीक्षा प्रायश्चित्त है।

यदि मुनि के आहार ले लेने पर दाता कहे कि भोजन में जंतु था उसको दूर कर हमने आपको आहार दिया है नहीं तो अंतराय हो जाती ऐसा सुन लेने पर प्रतिक्रमण सहित उपवास, आहार लेते समय थाली के बाहर गीली हड्डी आदि भारी अंतराय दिखाई पड़े तो प्रतिक्रमण पूर्वक तीन उपवास, यदि भोजन में ही गीली हड्डी चमड़ा आदि भारी अंतराय आ जाय तो प्रतिक्रमण पूर्वक चार उपवास प्रायश्चित्त है।

यदि कोई मुनि तीन, चार घड़ी सूर्योदय से पहले अथवा गोसर्ग समय में एक बार आहार करे तो एक कायोत्सर्ग, यदि कोई मुनि तीन, चार घड़ी सूर्योदय से पहले या गोसर्ग काल में अनेक बार भोजन करे तो एक उपवास, यदि कोई मुनि रोग के वशीभूत होकर एक बार अपने हाथ से अन्न बनाकर भोजन करे तो एक उपवास, इसी प्रकार यदि कोई मुनि किसी रोग के कारण कई बार अपने हाथ से भोजन बनाकर आहार करे तो तीन उपवास, यदि निरोग अवस्था में कोई मुनि अपने हाथ से बनाकर भोजन करे तो पंचकल्याणक, यदि निरोग अवस्था में कोई मुनि अनेक बार अपने हाथ से बनाकर आहार करे तो पुनर्दीक्षा प्रायश्चित्त है।

यदि कोई मुनि दिन में काठ पत्थर आदि हटावें या दूसरी जगह रक्खें तो एक कायोत्सर्ग, यदि कोई मुनि रात्रि में काठ पत्थर को उठावें या हिलावें या दूसरी जगह रक्खें या रात्रि में इधर-उधर भ्रमण करे तो एक उपवास प्रायश्चित्त है।

यदि कोई मुनि हरितकाय पृथ्वी पर रात्रि में एक बार मलमूत्र निक्षेपण करें तो एक कायोत्सर्ग, यदि वे बार-बार निक्षेपण करें तो एक उपवास प्रायश्चित्त है।

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र में पांच इन्द्रियां हैं। यदि कोई मुनि अप्रमत्त होकर स्पर्शन इंद्रिय का विषय पोषण करें तो एक कायोत्सर्ग रसना इंद्रिय को वश में न करें तो दो कायोत्सर्ग, घ्राण इंद्रिय को वश में न करे तो तीन कायोत्सर्ग, चक्षु इन्द्रिय को वश में न करे तो चार कायोत्सर्ग, कर्ण इंद्रिय को वश में न करे तो पांच कायोत्सर्ग, यदि कोई मुनि प्रमादी होकर इन इंद्रियों को वश में न करे तो क्रमशः एक उपवास, दो उपवास, तीन उपवास, चार उपवास, पांच उपवास प्रायश्चित्त है।

यदि कोई मुनि वंदना आदि छहों आवश्यकों के करने में तीनों कालों के नियमों को भूल जाय अथवा समय का अतिक्रम हो जाय तो प्रतिक्रमण पूर्वक एक उपवास, यदि कोई मुनि तीन पक्ष तक प्रतिक्रमण न करें तो उसका प्रायश्चित्त दो उपवास, यदि कोई मुनि चातुर्मासिक प्रतिक्रमण न करें तो आठ उपवास, यदि कोई मुनि वार्षिक प्रतिक्रमण न करे तो चौबीस उपवास प्रायश्चित्त है।

यदि कोई रोगी मुनि चार महीने के बाद केशलोंच करें तो एक उपवास, यदि कोई रोगी मुनि एक वर्ष के बाद केशलोंच करे तो तीन उपवास, यदि कोई रोगी मुनि पांच वर्ष के बाद केशलोंच करें तो पंचकल्याणक, यदि कोई नीरोग मुनि चार महीने के बाद एक वर्ष के बाद वा पांच वर्ष के बाद केशलोंच करे तो निरंतर पंचकल्याणक प्रायश्चित्त है।

यदि कोई मुनि किसी उपसर्ग से वस्त्र ओढ़ ले तो एक उपवास, यदि कोई मुनि व्याधि के कारण वस्त्र ओढ़ ले तो तीन उपवास, यदि कोई मुनि अपने दर्प से वस्त्र ओढ़ ले तो पंच कल्याणक, अन्य किसी कारण से वस्त्र ओढ़ ले तो पुनर्दीक्षा प्रायश्चित्त है।

यदि कोई मुनि एक बार स्नान करे तो एक पचंकल्याणक, यदि एक बार दंत धावन करे तो एक पंच कल्याणक, यदि एक बार कोमल शय्या पर शयन करे तो एक कल्याणक, यदि इनको बार-बार करे तो पंच कल्याणक, यदि कोई मुनि प्रमाद से एक बार बैठकर भोजन करे तो पंच कल्याणक, यदि कोई मुनि प्रमाद से दिन में दो बार भोजन करे तो पंचकल्याणक, यदि कोई मुनि अहंकार से एक बार बैठकर भोजन करे या दिन में दो बार भोजन करे तो दीक्षा छेद, यदि कोई मुनि बार-बार बैठकर आहार ले अथवा बार-बार दिन में दो बार भोजन करे तो पुनर्दीक्षा प्रायश्चित्त है।

यदि कोई मुनि पांच समिति, पांच इंद्रियों को निरोध, भूशयन, केशलोंच और अदंत धावन इन तेरह मूलगुणों में एक संक्लेश परिणमन करे तो एक कायोत्सर्ग, यदि कोई मुनि इन तेरह मूलगुणों में बार-बार संक्लेश परिणाम करे तो एक उपवास, यदि कोई मुनि बाकी के पंद्रह मूलगुणों में एक बार संक्लेश परिणाम करे तो पंच कल्याणक, यदि कोई मुनि इन पंद्रह मूलगुणों में बार-बार संक्लेश परिणाम करे तो पुनर्दीक्षा प्रायश्चित्त है॥ **(इति मूलगुण)**॥

यदि कोई मुनि मर्यादा पूर्वक स्थिर योग धारण करे और उसको मर्यादा से पूर्व समाप्त कर दे तो जितना शेष काल रहा उतने उपवास, एक महीने के तीन

भाग करें उसके प्रथम भाग में प्रतिक्रमण न करें तो एक पंचकल्याणक, दूसरे भाग में प्रतिक्रमण न करें तो उतने उपवास, तीसरे भाग में प्रतिक्रमण न करें तो एक लघु कल्याणक प्रायश्चित्त है ॥ (इति उत्तर पुराण)

यदि किसी मुनि ने किसी अप्रासुक भूमि में एक बार योग धारण किया तो प्रतिक्रमण पूर्वक एक उपवास, यदि किसी अप्रासुक भूमि में अनेक बार योग धारण करे तो पंचकल्याणक, यदि कोई मुनि किसी योग की भूमि को मनोहर देखकर उससे मोह करे तो पंचकल्याणक, यदि कोई मुनि किसी योग को मनोहर भूमि को देखकर उस पर अहंकार करे तो पुनर्दीक्षा प्रायश्चित्त है।

जो मुनि गाँव, नगर, घर, वसतिका आदि के बनवाने में दोषों को न जानता हुआ उसके बनवाने का उपदेश करे तो एक कल्याणक, यदि उसके बनवाने के दोषों को जानता हुआ आरंभ का उपदेश करे तो पंच कल्याणक, यदि वह गर्व वा अहंकार से उनके बनवाने का उपदेश करे तो पुनर्दीक्षा प्रायश्चित्त है।

जो मुनि पूजा के आरंभ से उत्पन्न होने वाले दोषों को नहीं जानता हुआ एक बार गृहस्थों को पूजा करने का उपदेश करे तो उसके आरंभ के अनुसार आलोचना या कायोत्सर्ग से लेकर उपवास, यदि वे मुनि बार-बार उपदेश करे तो कल्याणक, जो मुनि पूजा के आरंभ के दोषों को जानते हुए एक बार उपदेश करे तो मासिक पंच कल्याणक, तथा जिस पूजा के उपदेश देने से छहकायिक जीवों का वध होता हो तो छेदोपस्थापना अथवा पुनर्दीक्षा प्रायश्चित्त है।

यदि कोई सल्लेखना करने वाला साधु क्षुधा, तृषा से पीडित होकर लोगों के न देखते हुए भोजन कर ले या सल्लेखना न करने वाला साधु अनेक उपवासों के कारण भूख प्यास से पीडित होकर लोगों के न देखते हुए भोजन कर ले तो प्रतिक्रमण सहित उपवास, यदि ऊपर लिखे दोनों प्रकार के मुनि किसी रोगी मुनि को देखते हुए भोजन कर ले तो पंच कल्याणक प्रायश्चित्त है।

यदि कोई मुनि सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हुए लोगों के साथ या व्रतों से भ्रष्ट हुए लोगों के साथ विहार करे उनकी संगति करे तो पंच कल्याणक, यदि वे अरहंत,

सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्व साधुओं को अवर्णवाद लगावे तो, उनकी निंदा करे, झूठे दोष लगावे तो प्रतिक्रमण कायोत्सर्ग सहित उपवास प्रायश्चित्त है।

यदि कोई मुनि विद्या, मंत्र, तंत्र, यंत्र वैद्यादिक अष्टांग निमित्त, ज्योतिष, वशीकरण, गुटिका चूर्ण आदि का उपदेश करे तो प्रतिक्रमण पूर्वक उपवास प्रायश्चित्त है।

यदि कोई मुनि सिद्धांत के अर्थ को जानते हुए भी उपदेश न करे तो आलोचना पूर्वक कायोत्सर्ग, यदि वे सिद्धांत के श्रोताओं का संतोष उत्पन्न न कर क्षोभ पैदा करे तो एक उपवास प्रायश्चित्त है।

यदि कोई अप्रमत्त मुनि जीव जंतुओं से रहित प्रदेश में संस्तर को शोधे बिना सो गये तो एक कायोत्सर्ग, यदि वे मुनि प्रमाद से जीव जंतु रहित स्थान बिना शोधे सो गये तो एक उपवास, यदि अप्रमत्त मुनि जीव जंतु रहित स्थान में संस्तर को शोधे बिना सो गये तो एक उपवास, यदि कोई प्रमत्त मुनि जीव जंतु सहित स्थान संस्तर बिना शोधे सोये हों तो कल्याणक प्रायश्चित्त है।

यदि किसी मुनि से कमंडलु आदि उपकरण नष्ट हो गये हो, टूट फूट गये हों तो जितने अंगुल टूटे-फूटे हों उतने उपवास करना चाहिए। **(इति मुनि प्रायश्चित्त विधान)**

सह समणाणं भणियं समणीणं तहय होय मलहरणं।
वज्जियतियाल जोगंदिणपडिमं छेदमालं च॥

जो पहले मुनिश्वरों के प्रायश्चित्त का वर्णन किया है उसी प्रकार आर्यिकाओं का प्रायश्चित्त समझना चाहिए। उसमें विशेष केवल इतना ही है कि आर्यिकाओं को त्रिकाल योग धारण तथा सूर्य प्रतिमा योग धारण ये दो प्रकार के योग धारण नहीं करना चाहिए। बाकी सब प्रायश्चित्त मुनियों के समान है।

यदि आर्यिका रजस्वला हो जाय तो उस दिन से चौथे दिन तक अपने संघ से अलग होकर किसी एकांत स्थान में रहना चाहिए। उन दिनों आचाम्ल व्रत (भात माड़ खाकर) तथा निर्विकृत भोजन अथवा उपवास धारण कर रहना चाहिए।

सामायिक आदि का पाठ मुख से उच्चारण नहीं करना चाहिए। इन सामायिक पाठों का मन से चिंतवन कर सकती हैं। उसे दिन में प्रासुक जल से अपने अंग और वस्त्र यथा योग्य रीति से शुद्ध कर लेना चाहिए, पांचवें दिन प्रासुक जल से स्नानकर तथा यथा योग्य रीति से वस्त्र धोकर अपने गुरु के समीप जाना चाहिए। और अपनी शक्ति के अनुसार किसी एक वस्तु के त्याग करने का नियम कर लेना चाहिए।

इसमें जो आर्यिका के लिए स्नान और वस्त्र प्रक्षालन कहा गया है सो ये दोनों ही क्रियायें गृहस्थों के समान नहीं हैं। किन्तु अपने वा दूसरे के कमंडलु के प्रासुक जल से यथा योग्य शरीर को धोना और रक्त मिले हुए वस्त्र को शुद्ध करना है। यदि वह इतना भी न करे तो उतना निरंतराय आहार कैसे हो तथा सामायिक आदिक छह आवश्यक कर्म किस प्रकार बन सकेंगे। गणिनि के साथ बैठना, गणिनि वा अन्य आर्यिकाओं को स्पर्श करना, धर्मोपदेश देना, पढ़ना, पढ़ाना, जिन दर्शन करना, आचार्यादिक के दर्शन करना और शास्त्र श्रवण करना आदि कार्य किस प्रकार बन सकें। यदि वह स्नानादिक नहीं करे तो चार दिन तक वह तो एकांत स्थान में मौन धारण कर, गणिनि से अलग, सामायिक आदि क्रियाओं के आचरण से रहित रहती हैं सो उसका वह रहना भी नहीं बन सकेगा। आर्यिका के साक्षात महाव्रत तो हैं नहीं, न साक्षात्, अट्ठाईस मूलगुण हैं इसलिए उसको स्नानादिक का दोष नहीं लगता। इसके सिवाय एक बात यह भी है कि वह जो स्नान और वस्त्र प्रक्षालन करती है उसका वह प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध होती है। आर्यिका जो वह स्नान करती है सो सुख के लिए नहीं करती।

यदि आर्यिका अप्रासुक जल से वस्त्र धोवे तो एक उपवास, यदि वह अपने पात्र तथा वस्त्रों को प्रासुक जल से धोवे तो एक कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त है। इस प्रकार वह आर्यिका यथा-योग्य रीति से अपने शरीर वस्त्र आदि धोने का प्रायश्चित्त लेती है गृहस्थ के समान स्नान करने का तो उसको अधिकार नहीं है।

तिविहो विहोइ ण्हाणं तोएण वदेण मंत संजुत्तं।
तोएण गिहत्थाणं मंतेण वदेण साहूणं॥

जैन शास्त्रों में तीन प्रकार के स्नान कहे गये हैं - जल स्नान, व्रत स्नान और मंत्र स्नान। इनमें से जल स्नान गृहस्थों के लिए बतलाया है तथा साधुओं को व्रत स्नान और मंत्र स्नान कहा गया है। **(इति आर्यिका दंड विधान)**

सूतक दो प्रकार का है जो गृहस्थ के घर पुत्र-पुत्री आदि का जन्म हो तो दस दिन का सूतक है। यदि मरण हो तो बारह दिन का सूतक है। जिस घर में या जिस क्षेत्र में प्रसूति हो उसका सूतक एक महीने का है। यह सूतक जिसके घर जन्म हो उसको लगता है। जो उसके गोत्र वाले हैं उनको पांच दिन का सूतक लगता है। यदि प्रसूति में ही बालक का मरण हो जाय तो अथवा देशांतर में किसी का मरण हो जाय या किसी संग्राम में मरण हो जाय अथवा समाधि मरण से प्राण छोड़े हों तो इन सबका सूतक एक दिन का है। घोड़ी, गाय, भैंस, दासी आदि की प्रसूति यदि अपने घर में या आंगन में हो तो सूतक एक दिन का है। यदि इनकी प्रसूति घर के बाहर किसी क्षेत्र में या बगीचे में होता है उसका सूतक नहीं लगता। जिस गृहस्थ के यहां पुत्रादि का जन्म हुआ हो तो उसको बारह दिन पीछे भगवान अरहंत देव का अभिषेक, जिनपूजा और पात्र दान देना चाहिए तब उसकी शुद्धि होती है। अन्यथा शुद्धि नहीं होती। यदि दासी दास या कन्या की प्रसूति या मरण अपने घर हो तो उस गृहस्थ को तीन दिन का सूतक लगता है। वह प्रसूति या मरण अपने घर हुआ है अतः दोष लगता है। यदि किसी गृहस्थ के स्त्रियों के गर्भपात हो जाय तो जितने महीने का वह गर्भ हो उतने दिन का सूतक होता है। इसमें भी क्षत्रियों को पांच दिन, ब्राह्मणों को दस दिन, वैश्य को बारह दिन का और शूद्र को पंद्रह दिन का सूतक होता है।

लौकिक में जो सती होती है उसके बाद रहने वाले घर के स्वामी को उसकी हत्या का पाप छह महीने तक रहता है। छह महीने बाद प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध होता है। जिसके घर में कोई सती हो गई हो उसको छह महीने पहले प्रायश्चित्त देकर शुद्ध नहीं करना चाहिए। यदि कोई अपघात करके घर जाय तो उसके बाद रहने वाले घर के स्वामी को यथायोग्य प्रायश्चित्त देना चाहिए। भैंस का दूध प्रसूति के दिन से पंद्रह दिन बाद, गाय का दूध प्रसूति के दिन से दस दिन के बाद

का बकरी का दूध प्रसूति के दिन से आठ दिन बाद शुद्ध होता है। इस सबका दूध ऊपर लिखे दिन से पहले शुद्ध नहीं होता।

यदि गोत्री चौथी पीढ़ी तक का हो तो दस दिन का, पांचवीं पीढ़ी का हो तो छह रात्रि का, छठीं पीढ़ी वालों को चार दिन का, सातवीं पीढ़ी वाले को तीन दिन का, आठवीं पीढ़ी वाले को एक दिन रात का, नौवीं पीढ़ी वाले को दो पहर का, दसवीं पीढ़ी वाले को स्नान करने मात्र का सूतक लगता है। मुनि को अपने गुरु आदि के मरने का सूतक एक कायोत्सर्ग करने से शुद्ध होता है तथा राजा के पांच दिन का सूतक लगता है।

स्त्रियां जो रजस्वला होती है वह प्रकृति रूप से तथा विकृत रूप से ऐसे दो प्रकार से होती हैं। जो स्वभाव से ही प्रत्येक महीने योनिमार्ग से रुधिर का स्राव होता है वह प्रकृति रूप से होता है। जो असमय में ही रजःस्राव होता है उसको विकृति रूप कहते हैं वह दूषित नहीं है उसके होने पर केवल स्नान मात्र से शुद्धि होती हैं। यदि पचास वर्ष के बाद रजः स्राव हो तो उसकी शुद्धि स्नान मात्र ही है। स्त्रियों के प्रदर आदि अनेक रोगों के कारण रजःस्राव होता है तथा विकार रूप होता है वह राग की उत्कृष्टता से होता है। जो बारह वर्ष की अवस्था से लेकर पचास वर्ष तक प्रतिमास रजो धर्म होता है वह काल रजोधर्म है। इसके बाद अकाल रूप कहा जाता है। इस प्रकार इसके दो भेद हैं। जिस दिन स्त्री के रज का अवलोकन हो उस दिन से लेकर तीन दिन अशौच है। यदि उस दिन आधीरात तक रजो दर्शन हो तो भी पहला दिन समझना चाहिए। रात्रि के तीन भाग करना चाहिए उसमें से पहला और दूसरा भाग हो उसी दिन में समझना चाहिए और पिछला एक भाग दूसरे दिन की गिनती में लेना चाहिए। ऐसी आम्नाय है।

यदि ऋतु काल के बाद फिर वही स्त्री अठारह दिन पहले ही रजस्वला हो जाय तो वह केवल स्नान मात्र से ही शुद्ध हो जाती है। यदि कोई स्त्री अत्यन्त यौवनवती हो और वह रजस्वला होने के दिन से सोलह दिन के पहले ही फिर रजस्वला हो जाय तो वह स्नान मात्र से शुद्ध हो जाती है तथा रजस्वला होने के दिन से यदि अठारह दिन के पहले ही रजस्वला हो जाय तो वह स्नान मात्र से शुद्ध

हो जाती है। यदि उसके अठारहवें दिन ही रजोधर्म हो तो दो दिन का सूतक पालन करना चाहिए। यदि उसके उन्नीसवें दिन रजोधर्म हो तो उसको तीन दिन तक अशौच पालन करना चाहिए। यदि रजस्वला होने के बाद चौथे दिन स्नान कर ले और फिर रजस्वला हो जाय तो वह अठारह दिन तक शुद्ध नहीं होती।

यदि कोई स्त्री अपने समय पर रजस्वला हुई हो तो उसको तीन दिन तक ब्रह्मचर्य पूर्वक रात्रि में किसी एकांत स्थान में जहां मनुष्यों का संचार न हो ऐसी जगह डाभ के आसन पर सोना चाहिए। उसको खाट, पलंग, शय्या, वस्त्र, रुई का बिछौना, ऊन का बिछौना आदि का स्पर्श न करें देव धर्म की बात भी न करें। संकुचित होकर प्राण धारण कर रहना चाहिए। गोरस रहित एक बार रुखा अन्न खाना चाहिए। नेत्रों में काजल, अंजन आदि नहीं डालें। उबटन लगाना, तेल लगाना, पुष्प माला पहनना, गंध लगाना आदि श्रृंगार के सभी साधनों का त्याग करना चाहिए। देव गुरु राजा और अपने कुल देवता का रूप दर्प में भी नहीं करना चाहिए। किसी वृक्ष के नीचे या पलंग पर नहीं सोना चाहिए। तथा दिन में भी नहीं सोना चाहिए। उसको अपने मन में पंच णमोकार मंत्र का स्मरण करना चाहिए। उसका उच्चारण नहीं करना चाहिए। केवल मन में चिंतवन करना चाहिए। अपने हाथ में या पत्तल में भोजन करना चाहिए। किसी भी धातु के बर्तन में भोजन नहीं करना चाहिए। यदि वह किसी तांबे, पीतल आदि के पात्र में भोजन करें तो उस पात्र को अग्नि से शुद्ध करना चाहिए। चौथे दिन गोसर्ग के बाद स्नान करना चाहिए। प्रातः काल से लेकर छह घड़ी पर्यंत गोसर्ग काल कहा जाता है। चौथे दिन स्नान करने के बाद वह स्त्री अपने पति और भोजन बनाने के लिए शुद्ध समझना चाहिए। देव पूजा, गुरु सेवा तथा होम कार्य में वह पांचवें दिन शुद्ध होती है।

यदि कोई स्त्री इन ऋतु के तीन दिनों में रोती है तो उसके बालक के नेत्र विकृत, या अंधा या धुंधला या काना या ऐंचकताना या ढेर या पानी बहना या लाल या मांजरी हो जाती हैं। यदि कोई स्त्री ऐसे तीन दिन में नाखून काटती है तो उसके बालक के नाखूनों में विकार फटे-टूटे, सूखे, काले, हरे, टेढ़े और देखने में

बुरे हो जाते हैं। यदि कोई स्त्री इन तीन दिनों में उबटन करती या तेल लगाती है तो उसके बालक के अठारह प्रकार के कोढ़ रोगों में से कोई सा भी कोढ़ रोग हो जाता है। यदि वह इन तीन दिनों में गंध लगावे या जल में डूबकर स्नान करे तो उसका बालक दुराचारी व्यसनी होता है। यदि वह आंखों में अंजन लगावे तो उसके बालक के नेत्र नाद सहित हो जाते हैं। दिन में सोने से वह बालक रात दिन सोने वाला होता है। अथवा सदा ऊंघने वाला बालक होता है। जो स्त्री इन तीन दिनों में दौड़ती है उसका बालक चंचल होता है, उत्पाती उपद्रवी होता है। ऊंचे स्वर से बोलने या सुनने से उसका बालक गूंगा बहिरा होता है। जो स्त्री इन तीन दिनों में हंसती है उसके बालक के तालु, जीभ, ओठ काले पड़ जाते हैं। इन तीन दिनों में अधिक बोलने से उस स्त्री के प्रलापी बालक होता है। जो झूठा हो लबार हो उसको प्रलापी कहते हैं। प्रलापोनृतभाषणं अर्थात् झूठ बोलने का नाम प्रलाप है। जो स्त्री रजोधर्म के समय में परिश्रम करती है उसके अत्यन्त उन्माद रोगवाला या बावला पुत्र होता है। जो स्त्री उन दिनों में पृथ्वी खोदती है उसके दुष्ट बालक होता है। जो चौड़े में खुले आकाश में सोती है उसके उन्मत्त बालक होता है। इसलिए ये अयोग्य कार्य नहीं करने चाहिए। विवेक पूर्वक रहना चाहिए। ऐसा पूर्वाचार्यों ने लिखा है।

जो कोई अनाचारी, भ्रष्ट इनका दोष नहीं मानते। कितने ही लोग स्पर्श करने पर भी स्नान नहीं करते कितने ही लोग दूसरे तीसरे दिन स्नान कराकर उसके हाथ के किए हुए सब तरह के भोजन खा लेते हैं। कोई कोई लोग उन्हीं दिनों में कुशील सेवन भी करते हैं परन्तु ऐसे लोग महा अधर्मी, पातकी, भ्रष्ट और नीचातिनीच कहलाते हैं। ऐसे लोग स्पर्श करने योग्य भी नहीं है। क्योंकि रजोधर्म वाली स्त्री को पहले दिन चांडाली संज्ञा है दूसरे दिन ब्रह्मघातिनी संज्ञा है, तीसरे दिन रज की संज्ञा है और चौथे दिन शुद्ध होती है। और जो स्त्री पर पुरुषगामिनी है वह जीवन पर्यंत अशुद्ध रहती है। व्यभिचारिणी स्त्री स्नान आदि कर लेने पर भी शुद्ध नहीं होती। वह पर पुरुष का त्याग कर देने मात्र से ही शुद्ध हो सकती है। ऐसा आचार शास्त्रों में ऋषियों ने लिखा है।

कितने ही अधर्मी इन तीन दिनों में सामायिक, प्रतिक्रमण तथा शास्त्र के स्पर्श आदि कार्यों को करते हैं, ऐसे लोग उससे होने वाले अविनय और महापाप को नहीं मानते। यदि कोई इन कार्यों के करने के लिए निषेध करते हैं तो उनको यह उत्तर देते हैं कि इस शरीर में शुद्ध पदार्थ है ही क्या ? क्योंकि रुधिर आदि बहते रहते हैं यदि किसी के गांठ या फोड़ा हो जाता है और वह पक कर फूट जाता है उसी प्रकार स्त्रियों का यह मासिक धर्म है। अतः आज्ञा बाह्य, महापातकी और अनाचारी हैं। रजस्वला स्त्री के स्पर्श, अस्पर्श का उसकी भूमि की शुद्धि का, तथा संभाषण आदि के दोषों को अर्वाचीन आचार्यों ने बतलाया है।

कितने ही पापी अपनी लक्ष्मी के मद में आकर रजस्वला स्त्रियों को भूमि पर नहीं सोने देते किंतु उन्हें पलंग पर ही सुलाते हैं यदि कोई उसका निषेध करता है तो अपनी राजनीति का अभिमान करते हुए नहीं मानते हैं। ऐसे लोग बड़े अधर्मी और पातकी गिने जाते हैं। जो मुनि होकर घोड़े पर चढ़े, जो स्त्री रजस्वला अवस्था में ही पलंग पर बैठे या सोवे तथा जो गृहस्थ शास्त्र सभा बैठकर बातें करे ऐसे पुरुषों को देखकर ही वस्त्र सहित स्नान करना चाहिए।

अश्वारूढंयतिं दृष्ट्वा खट्वा रूढां रजस्वलां।
शास्त्र स्थाने गृह वक्तृन्, सचेल स्नानमाचरेत्॥

यदि कोई बालक मोह से रजस्वला स्त्री के पास सोवे, बैठे या रहे तो सोलह बार स्नान करने से उसकी शुद्धि होती है यदि कोई दूध पीने वाला बालक दूध पीने के लिए उसका स्पर्श करे तो जल के छींटे देने मात्र से ही उसकी शुद्धि हो जाती है। क्योंकि ऐसे छोटे बालक को स्नान करने का अधिकार नहीं है।

तया सह तद्वालस्तु द्वयष्ट स्नाने शुद्धयति।
तांस्पर्शन् स्तनपायी वा प्रोक्षणे नैव शुद्धयति॥

मक्षिकामारूतो गावः स्वर्ण भग्नि महानदी।
नावः पाथोदकं पीठं नास्पृश्यं चोच्यते बुधैः॥

प्रायश्चित्त शास्त्रों में और भी कितने ही पदार्थ बतलाये हैं जिनमें स्पर्श का

दोष नहीं माना जाता है। जैसे मक्खी, हवा, गाय, स्वर्ण, अग्नि, महानदी, नाव, गंधोदक और सिंहासन अस्पृश्य नहीं होते। ऐसा आचार्यों ने कहा है।

आतुरेतु समुत्पन्ने दशवारमनातुरा।
स्नात्वा स्नात्वा स्पर्शेदनामातुराशुद्धमाप्नुयात् ॥

जराभिभूता या नारी रजसा चेत् परिप्लुता।
कथं तस्य भवच्छौच्यं शुद्धिस्यात्केन कर्मणा ॥

चतुर्थेऽहनि संप्राप्ते स्पर्शेदन्या तुतां स्त्रियं।
सा च सचै च ग्राह्या यः स्पर्शे स्नात्वा पुनः पुनः ॥

दश द्वादश वा कृत्वा ह्याचमनं पुनः पुनः।
अन्ये च वाससां त्यागं स्नात्वा शुद्धा भवेत्तु सा ॥

यदि कोई स्त्री किसी रोग या शोक से अशक्त हो या बुढ़ापे से अशक्त हो और वह रजस्वला हो जाए तो उसकी शुद्धि इस प्रकार करना चाहिए कि चौथे दिन कोई निरोग सशक्त स्त्री उसे स्पर्श करें फिर स्नान करे, फिर स्पर्श करें फिर स्नान करें। इस प्रकार वह दश बार स्पर्श करे तो वह स्त्री शुद्ध हो जाती है। अंत में रजस्वला के वस्त्रों को बदलवाकर दस बारह आचमन कर तथा स्नान कर लेने से वह नीरोग स्त्री भी शुद्ध हो जाती है। यह रुग्ण रजस्वला स्त्री की शुद्धि का क्रम है।

प्रस्तुत ग्रंथ के महत्त्वपूर्ण संदर्भः -

सूतकान्मलिनौ यातौ द्रव्यभावौ नृणामिह।
ततो हि धर्मचारित्रे मलिने भवतः स्वयं ॥ ८८ ॥

सूतका चरणेनात्र द्रव्यशुद्धिः प्रजायते।
ततो भावविशुद्धिः स्यात्ततो वृत्तं सुनिर्मलं ॥ ८९ ॥

आर्तवं सौतिकं चैव मार्त्यवं तत्सुसंगमः।
अशौचं कथितं देवैः द्विजानां सुव्रतात्मनां ॥ ९० ॥

भवति जननाशौचमाचस्य विशुद्धये ।
स्राव: पात: प्रसूतिश्च तदिदं त्रिविधं मतं ॥ ९१ ॥

प्रसवे मरणे जाते नाभिच्छेदात्परं किल ।
मातु: पितु: सपिंडानामशौचं पूर्णमीरितं ॥ ९२ ॥

दूरदेश मृतस्यात्र पित्रो भ्रातुश्च सूतकं ।
पूर्ण दूर जनानां तु दिवसैकं च सूतकं ॥ ९३ ॥

दिनत्रयमशौचं स्यात्सा चतुर्थेऽह्नि शुद्धयति ।
पत्यौहि केवलं सा च दान पूजा सु पंचमे ॥ ९४ ॥

चाण्डालिनि समा चाद्ये ब्रह्मघाति द्वितीयके ।
तृती रजकीरूपा सा तुर्येऽह्नि शुद्धयति ॥ ९५ ॥

व्रतिका क्षुल्लिका चार्या कुर्यादशनं तदा ।
दिनं त्रयं समर्था चेत् ह्यनशनं तु चरेत्तदा ॥ ९६ ॥

नीरसं भोजनं शुद्धं पाकस्थानात्सुदूरत: ।
भुंजीत् क्षुल्लिका चार्या गूढा संवृत कायिका ॥ ९७ ॥

एकाशनं सुमौनेन परं तदपि नीरसं ।
शुद्धिं कृत्वा चैकांते धौत वस्त्रान्विताशुभा ॥ ९८ ॥

प्रसन्न मानसा शांता सैव वारत्रयं नयेत् ।
चतुर्थेऽह्नि च सा स्नायात्मध्यान्हे शुद्ध वारिणा ॥ ९९ ॥

या स्त्री रजस्वलाऽऽचरं अबोधान्नैव पालयेत् ।
शूद्रा सा च मता वृत्त क्रियाहीना च पापिनी ॥ १०० ॥

पुत्रप्रसूतौ तदामातुर्दशाहमनिरीक्षणं ।
सुकर्मानधिकारोऽस्ति दिनानि किल विंशति ॥ १०१ ॥

स्त्री प्रसूतौ तु मातुः स्याद्दशाहान्थनिरीक्षणं ।
सुकर्मानधिकारोऽस्ति यावद्विंशति वासरां ॥ १०२ ॥

पक्षाहं च जिनेज्याधनधिकार सुलक्षणं ।
मासैकार्धमशौचं हि प्रसूताया जिनैर्मतं ॥ १०३ ॥

छहढाला कार ने लिखा है कि - जे त्रिभुवन में जीव अनंत, सुख चाहे दुखते भयवंत । तातैं दुख हारि सुखकार, कहे सीख गुरु करुणा धार ॥ तथा संसार से निकलने का पार उतरने का रास्ता परम पूज्य विश्व वंद्य प्रातः स्मरणीय गुरुदेव, देवाधिदेव, मुनि कुंजर आचार्य परमेष्ठी आदिसागरजी महाराज अंकलीकर ने हमारे जैसे पामर प्राणियों पर करूणा कर यह प्रायश्चित्त विधान नामक ग्रंथ रूप में अपनी अमूल्य वाणी के माध्यम से मार्ग प्रशस्त किया है । वह सभी भव्यों को इस संसार से तारने में समर्थ है । जिस वाणी के ज्ञान से लोकालोक को जानने की सामर्थ्य प्राप्त होती है वह वाणी अपने मस्तक में धारण कर उसको नमस्कार करता हूं ।

जा वाणी के ज्ञान से सूझे लोकालोक ।
सो वाणी मस्तक चढ़ो सदा देत हूं धोक ॥

यही भूत वाणी प्रस्तुत ग्रन्थ में है । अध्ययन कर संसार समुद्र में जहाज के समान स्वयं तरेगें और दूसरों को भी तारेंगे । यह वीतराग विज्ञान से संभव है और वीतराग गुरुओं से संभव है । तथा वर्तमान युग में सर्व प्रथम वीतराग विज्ञान के प्रस्तुत कर्ता आचार्य परमेष्ठी आदिसागर अंकलीकर हैं । जो मोक्ष लक्ष्मी के निकेतन हुए हैं ।

॥ शुभम् भूयात् ॥